कुछ जाने-माने सिद्धहस्त तथा लब्धप्रतिष्ठित शिल्पियों की कृतियाँ हैं जिन की प्रत्येक कहानी आप के हृदय को छूती रही है। 'समन्वय' उन्हीं कथाकारों का नवीनतम कहानी संग्रह है।

ज

न

र

ल

हमारे कुछ अन्य प्रकाशन

जनरव

सम्पादक

रामानन्द 'दोषी'

रमाकान्त 'कान्त'

नव साहित्य प्रकाशन नई दिल्ली-१

प्रथमावृति
नवम्बर १९५५

आवरण पृष्ठ श्री बी० एम० आनन्द
तीन रुपया चार आने

सहयोगी प्रकाशन, ६१७ छत्ता मदन गोपाल, दिल्ली।
मुद्रक:—सचदेवा प्रेस, हौज काजी, दिल्ली।

उन समस्त जाने-अजाने शिल्पियों को
जिन्होंने
हिन्दी कथा-साहित्य को बल दिया है
सादर
समर्पित

भूमिका नहीं

यह भूमिका नहीं, है. है सफाई जिसे देना मेरे लिए नितान्त अनिवार्य हो गया है । बात का सम्बन्ध थोड़ा पहले—उस समय से है, जब हम लोगों के सम्पादन में 'तूलिका' (काव्य-संग्रह)प्रकाशित हुआ था । उस समय दृष्टिकोण केवल उन रचनाओं को प्रकाश में लाना था, जिन का कोई निजी संग्रह तब तक प्रकाशित नहीं हुआ था । "तूलिका" की भूमिका में अपने इसी दृष्टि-कोण को स्पष्ट करते हुये 'दोषी' जी ने एक शब्द का प्रयोग किया था, जिसे लेकर काफी चख-चख चली । वह शब्द था 'छुटभैये' । उस शब्द के बारे में मैं यही कहूंगा, कि जिन तनिक भी समझदार लोगों की नजरों से वे पंक्तियाँ गुजरीं, उन्हें यह समझते देर न लगी कि साहित्य में उपेक्षित कलाकारों की किस दर्जे हिमायत और बकालत उनमें की गई थी । खेद है कि जिन व्यक्तियों की हिमायत और वकालत 'दोषी' जी ने की थी, उन्होंने आभार मानने की उपेक्षा हम लोगों की खिलाफत मे भरकस अपनी (शक्ति व्यय की । इस घटना से मुझे चोट पहुंचना स्वाभाविक था) प्रतिक्रिया स्वरूप नए कलाकरों को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा जाने-माने. सिद्धहस्त और लब्धप्रतिष्ठ कला-

कारों का सहयोग प्राप्त करना ही मुझे अधिक श्रेयस्कर प्रतीत हुआ है प्रस्तुत पुस्तक उसी प्रयास का फल है। 'तूलिका' में की गई घोषणा के अनुरूप 'जनरव' नए लेखकों की कहानियों का संग्रह क्यों नहीं है,—मैं समझता हूँ इस सम्बन्ध में यह सफ़ाई काफी है।

६१७ छत्ता मदन गोपाल
दिल्ली-६

रमाकान्त 'कान्त'
१३-११-५५

अनुक्रमणिका

रांगेय राघव

गदल

बाहर शोर-गुल मचा। डोड़ी ने पुकारा—कौन है ?

कोई उत्तर नहीं मिला, आवाज आयी—हत्यारिन ! तुझे कतल कर ूंगा !

स्त्री का स्वर आया—करके तो देख ! तेरे कुनबे को डायन बनके न खा गयी, निपूते !

डोड़ी बैठा न रह सका। बाहर आया।

क्या करता है, क्या करता है, निहाल ?—डोड़ी बढ़कर चिल्लाया—आखिर तेरी मैया है।

मैया है !—कहकर निहाल हट गया।

अरे तू हाथ उठाके तो देख !—स्त्री ने फुफकारा—कढ़ी खाए ! तेरी सींक पर बिलियाँ चलवा दूं ! समझ रखियो ! मत जान रखियो, हाँ ! तेरी आसरतू नहीं हूँ।

भाभी !—डोड़ी ने कहा—क्या बकती है ? होश में आ !

वह आगे बढ़ा ! उसने मुड़कर कहा—जाओ सब ! तुम सब लोग जाओ !

निहाल हट गया। उसके साथ ही सब लोग इधर-उधर हो गये।

डोड़ी निस्तब्ध छप्पर के नीचे लगा बरेंडा पकड़े खड़ा रहा। स्त्री

3408

वहीं बिखरी हुई सी बैठी रही। उसकी आँखों में आग-सी जल रही थी।

उसने कहा—मैं जानती हूँ, निहाल में इतनी हिम्मत नहीं। यह सब तैंने किया है, देवर !

हाँ, गदल।—डोड़ी ने धीरे से कहा। मैंने ही किया है।

गदल सिमट गयी। कहा—क्यों, तुझे क्या जरूरत थी ?

डोड़ी कह नहीं सका। वह ऊपर से नीचे तक झनझना उठा। पचास साल का वह लंबा खारी गूजर, जिसकी मूँछें खिचड़ी हो चुकी थीं, छप्पर तक पहुँचा-सा लगता था। उसके कन्धे की चौड़ी हड्डियों पर अब दीवे का हल्का प्रकाश पड़ रहा था, उसके शरीर पर मोटी फतूही थी और उसकी धोती घुटनों के नीचे उतरने पहले ही झूल देकर चुस्त-सी ऊपर की ओर लौट जाती थी। उसका हाथ कर्रा था और वह इस समय निस्तब्ध खड़ा रहा।

स्त्री उठी। वह लगभग ४५ वर्षीया थी, और उसका रंग गोरा होने पर भी आयु के धुँधले में अब मैला-सा दिखने लगा था। उसको देख कर लगता था कि वह फुर्तीली थी। जीवन भर कठोर मेहनत करने से, उसकी गठन के ढीले पड़ने पर भी, उसकी फुर्ती अभी तक मौजूद थी।

तुझे शरम नहीं आती, गदल ?—डोड़ी ने पूछा।

क्यों शरम क्यों आयेगी ? गदल ने पूछा।

डोड़ी क्षण भर सकते में पड़ गया। भीतर के चौबारे से आवाज आयी—शरम क्यों आयेगी इसे ? शरम तो उसे आये, जिसकी आँखों में हया बची हो।

निहाल ! डोड़ी चिल्लाया: तू चुप रह।

फिर आवाज बंद हो गयी।

गदल ने कहा मुझे क्यों बुलाया है तूने ?

डोड़ी ने इस बात का उत्तर नहीं दिया। पूछा—रोटी खायी है ?

नहीं। गदल ने कहा—खाती भी कब ? कमबख्त रास्ते में मिले। खेत होकर लौट रही थी। रास्ते में अरने कण्डे बीनकर संझा के लिए ले जा रही थी।

डोड़ी ने पुकारा—निहाल ! बहू से कह, अपनी सास को रोटी दे जाये।

भीतर से किसी स्त्री की ढीठ आवाज सुनायी दी—अरे, अब लौहरों की बैयर आयी हैं; उन्हें क्या गरीब खारियों की रोटी भायेगी !

कुछ स्त्रियों ने ठहाका लगाया।

निहल चिल्लाया—सुन ले, परमेसुरी, जगहँसाई हो रही है। खारियों की तो तूने नाक काटकर छोड़ी।

२

गुन्ना मरा, तो पचपन बरस का था। गदल विधवा हो गयी। गदल का बड़ा बेटा निहाल तीस बरस के पास पहुँच रहा था। उसकी बहू दुल्लो का बड़ा बेटा सात का, दूसरा चार का और तीसरी छोरी थी जो उसकी गोद में थी। निहाल से छोटी तर-ऊपर की दो बहिनें थीं चंपा और चमेली, जिनका, क्रमशः झाज और बिस्वारा गाँओं में व्याह हुआ था। आज उनकी गोदियों से उनके लाल उतर कर धूल में घुटुरुव चलने लगे थे। अंतिम पुत्र नरायन अब बाईस का था, जिसकी बहू दूसरे बच्चे की माँ होने वाली थी। ऐसी गदल, इतना बड़ा परिवार छोड़कर चली गई थी और बत्तीस साल के एक लौहरे गूजर के यहाँ जा बैठी थी।

डोड़ी गुन्ना का सगा भाई था। बहू थी, बच्चे भी हुए। सब मर गये। अपनी जगह अकेला रह गया। गुन्ना ने बड़ी-बड़ी कही, पर वह फिर अकेला ही रहा, उसने व्याह नहीं किया, गदल ही ही के चूल्हे पर खाता रहा, कमाकर लाता, तो उसी को दे देता, उसी के बच्चों को अपना मानता, कभी उसने अलगाव नहीं किया। निहाल अपने चाचा पर जान देता था। और फिर खारी गूजर अपने को लौहरों से ऊँचा

समझते थे।

गदल जिसके घर जा बैठी थी, उसका पूरा कुनवा था। उसने गदल की उम्र नहीं देखी, यह देखा कि खारी औरत है, पड़ी रहेगी। चूल्हे पर दम फूंकनेवाली की जरूरत भी थी।

आज ही गदल सवेरे गई थी और शाम को उसके बेटे उसे फिर बाँध लाये थे। उसके नये पति मौनी को अभी पता भी नहीं हुआ होगा। मौनी रँडुवा था। उसकी भाभी जो पाँव फैला कर मटक-मटक-कर छाछ बिलोती थी, दुल्लो सुनेगी, तो क्या कहेगी?

गदल का मन विक्षोभ से भर उठा।

२

आधी रात हो चली थी। गदल वहीं पड़ी थी। डोड़ी वहीं बैठा चिलम फूंक रहा था।

उस सन्नाटे में डोड़ी ने धीरे से कहा गदल।

क्या है?—गदल ने हौले से कहा।

तू चली गयी न?

गदल बोली नहीं। डोड़ी ने फिर कहा—सब चले जाते हैं। एक दिन तेरी देवरानी चली गयी, फिर एक-एक कर के तेरे भतीजे भी चले गये। भैया भी चला गया। पर तू जैसे गयी, वैसे तो कोई भी नहीं गया। जग हँसता है, जानती है?

गदल ने बुरबुराया—जग हँसाई से मैं नहीं डरती, देवर! जब चौदह की थी, तब तेरा भैया मुझे गांव में देख गया था। तू उसके साथ तेल पिया लट्ठ लेकर मुझे लेने आया था न, तब? तब मैं आयी थी कि नहीं? तू सोचता होगा कि गदल की उमिर गयी, अब उसे खसम की क्या जरूरत है? पर जानता है, मैं क्यों गयी?

नहीं।

तू तो बस यही सोचा करता होगा कि गदल गयी, अब पहले सा रोटियों का आराम नहीं रहा। बहुएँ नहीं करेंगी तेरी चाकरी, देवर!

तूने भाई से और मुझसे निभायी, तो मैंने भी तुझे अपना ही समझा ! बोल, झूठ कहती हूँ ?

नहीं, गदल। मैंने कब कहा।

बस यही बात है, देवर ! अब मेरा यहाँ कौन है ! मेरा मरद तो मर गया। जीते जी मैंने उसकी चाकरी की, उसके नाते उसके सब अपनों की चाकरी बजायी। पर जब मालिक ही न रहा, तो काहे को हड़कम्प उठाऊँ ! यह लड़के, यह बहुएँ ! मैं इनकी गुलामी नहीं करूँगी !

पर क्या यह सब तेरी औलाद नहीं, बावरी। बिल्ली तक अपने जायों के लिए सात घर उलट-फेर करती है, फिर तु तो मानुस है। तेरी माया-ममता कहाँ चली गयी ?

देवर, तेरी कहाँ चली गयी थी, जो तूने फिर ब्याह न किया !

मुझे तेरा सहारा था, गदल !

कायर ! भैया तेरा मरा, कारज किया बेटे ने और फिर जब सब हो गया, तब तू मुझे रखकर घर नहीं बसा सकता था ! तूने मुझे पेट के लिए पराई डयोढ़ी लँघवायी। चूल्हा मैं तब फूंकूँ, जब मेरा कोई अपना हो। ऐसी बाँदी नहीं हूँ कि मेरी कुहनी बजे, औरों की बिछिया झनके। मैं तो पेट तब भरूँगी, जब पेट का मोल कर लूंगी। समझा, देवर ! तूने तो नहीं कहा तब। अब कुनबे की नाक पर चोट पड़ी, तब सोचा, जब तेरी गदल को बहुओं ने आँखें तरेर कर देखा। अरे, कौन किसी की परवाह करता है !

गदल !—डोड़ी ने भर्राये स्वर से कहा—मैं डरता था। तो भला क्यों ?

गदाल, मैं बुड्ढा हूं। डरता था, जग हंसेगा। बेटे सोचेंगे, शायद चाचा का अम्मा से पहले ही से नाता था, तभी तो चाचा ने दूसरा ब्याह नहीं किया। गदल, भैया की भी बदनामगी होती न ?

अरे, चल रहने दे !—गदल ने उत्तर दिया—भैया का बड़ा खयाल

रहा तुझे ! तू नहीं था कारज में उनके क्या ? मेरे ससुर मरे थे, तब तेरे भैया ने बिरादरी को जिवाकर ओठों से पानी छुलाया था अपने। और तुम सबने कितने बुलाये ? तू भैया, दो बेटे। यही भैया हैं, ? पच्चीस आदमी बुलाये कुल। क्यों आखिर ? कह दिया लड़ाई में कानून है। पुलस पच्चीस से ज्यादा होते ही पक; लें जायेगी ! डरपोक कहीं के ! मैं नहीं रहती ऐसों के।

हठात् डोड़ी का स्वर बदला—मेरे रहते तू पराये मरद के जा बैठेगी ?

हाँ।

अबके तो कह !—वह उठकर बढ़ा।

सौ बार कहूं, लाला !—गदल पड़ी-पड़ी बोली।—डोड़ी बढ़ा।

बढ़ !—गदल ने फुफकारा।

डोड़ी रुक गया। गदल देखती रही। फिर हँसी। कहा—तू मुझे मारेगा ! तुझमें हिम्मत कहँ है देवर ? मेरा नया मरद है न ? मरद है। इतनी सुन तो ले भला। मुझे लगता है, तेरा भइया ही फिर मिल गया है मुझे। तू ?—वह रुकी—मरद है ? अरे कोई बैयर से घिघियाता है। बढ़कर जो तू मुझे मारता, तो मैं समझती, तू अपनापा मानता है। मैं इस घर में रहूँगी ?

डोड़ी देखता ही रह गया। रात गहरी हो गयी। गदल ने लँहगे की पर्तें फैलाकर तन ढँक लिया। डोड़ी उँघने लगा।

४

ओसारे में दुल्ली ने अंगड़ाई लेकर कहा—आ गई देवरानी जी। रात कहाँ रहीं ?

सूका डूब गया था। आकाश में पौ फट रही थी। बैल अब उठकर खड़े हो गये थे। हवा में एक ठंडक थी

गदल ने तड़ाक से जवाब दिया—सो, जिठानी मेरी ! हुकुम नहीं चला मुझपर। तेरी-जैसी बेटियाँ हैं मेरी। देवर के नाते देवरानी हूँ

तेरी जूती नहीं।

दुल्लो सकपका गयी। मौनी उठा ही था। भन्नाया हुआ आया। बोला—कहाँ गयी थी?

गदल ने घूंघट खींच लिया, पर आवाज नहीं बदली। कहा—वही ले गये मुझे घेर कर! मौका पाके निकल आई।

मौनी दब गया। मौनी का बाप बाहर से ही ढोर हाँक ले गया। मौनी बढ़ा।

कहाँ जाता है?—गदल ने पूछा।

खेतहार।

पहले मेरा फैसला कर जा।—गदल ने कहा।

दुल्लो उस अधेड़ स्त्री के नक्शे देखकर अचरज में खड़ी रही।

कैसा फैसला?—मौना ने पूछा। वह उस बड़ी स्त्री से दब गया था।

अब क्या तेरे घर भर का पीसना पीसूंगी मैं?—गदल ने कहा—हम तो दो जने हैं। अलग करेंगे, खायेंगे।

उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह कहती रही—कमाई सामिल करो, मैं नहीं रोकती, पर भीतर तो अलग-अलग भले।

मौनी क्षण भर सन्नाटे में खड़ा रहा। दुल्लो तिनककर निकली। बोली—अब चुप क्यों हो गया, देवर? बोलता क्यों नहीं? मेरी देवरानी लाया है कि सास! तेरी बोलती क्यों नहीं कढ़ती? ऐसी न समझियो तू मुझे! रोटी तवा पर पलटते मुझे भी आँच नहीं लगतीं, जो मैं इसकी खरी-खोटी सुन लूंगी, समझा? मेरी अम्मा ने भी मुझे चूल्हे की माँटी खाकर ही जना था। हाँ!

अरी तो, सौत!—गदल ने पुकारा—मट्टी न खाके आयी सारे कुनवे को चबा जायेगी, डायन! ऐसी नहीं तेरी गुड़ की भेली है, जो न खायेंगे हम, तो रोटी गऊे में फंदा मार जायेगी।

मौनी उत्तर नहीं दे सका। बाहर चला गया।

दुपहर हो गयी थी। दुल्लो बैठी चरखा कात रही थी।

नरायन ने आकर आवाज दी—कोई हो ?

दुल्लो ने घूंघट काढ़ लिया। पूछा—कौन हो ?

नारायन ने खून का घूंट पीकर कहा—गदल का बेटा हूँ।

दुल्लो घूंघट में हँसी। पूछा—छोटे हो कि बड़े ?

छोटा।

और कितने हैं ?

कित्ते भी हों। तुझे क्या ?—गदल ने निकल कर कहा।

अरे आ गयी !—कह कर दुल्लो भीतर भागी।

आने दे आज उसे। तुझे बता दूंगी, जिठानी !—गदल ने सिर हिला कर कहा।

अम्मा !—नारायन ने कहा—यह तेरी जिठानी है ?

क्यों आया है तू, यह बता !—गदल झल्लायी।

दण्ड भरवाने आया हूं, अम्मा !—कहकर नारायन आगे बैठने को बढ़ा।

वहीं रह गदल ने कहा।

उसी समय लोटा डोर लिये मौनी लौटा। उसने देखा कि गदल ने अपने कड़े और हँसुली उतारकर फेंक दी और कहा—भर गया दण्ड तेरा। अब मत आइयो कोई। समझा ! समझ लीजो थाने में रपट कर दूँगी कि मेरे मरद का सब माल दबाकर बहुओं के कहने से बेटों ने मुझे निकाल दिया है।

नारायन का मुँह स्याह पड़ गया वह गहने उठाकर चला गया। मौनी मन-ही मन शंकित सा भीतर आया।

दुल्लो ने शिकायत की—सुना तूने, देवर ! देवरानी ने गहने दे दिये। घुटना आखिर पेट को ही मुड़ा। ऐसे चार जगह बैठेगी, तो बेटों के खेत की डौर पर डंडा-थूआ तक लग जायेंगे, पक्का चबूतरा घर के आगे बनवायेगा। समझा देती हूँ। तुम भोले-भाले ठहरे। लिरिया

चरित्तर तुम क्या जानो। धन्धा है यह भी। अब कहेगी, फिर बनवा मुझे।

गदल हँसी, कहा—वह, जिठानी! पुराने मरद का मोल नये मरद से तेरे घर की बैयर ही चुकवाती होगी। गदल तो मालकिन बन कर रहती है, समझी! बाँदी बनकर नहीं। चाकरी करूँगी तो अपने मरद की, नहीं तो बिधना मेरे ठेंगे पर। समझी! तू बीच में बोलने-वाली कौन?

दुल्लो ने रोष से देखा और पांव पटकती चली गयी।

मौनी ने देखा और कहा—बहुत बढ़-बढ़कर बातें मत हांक, समझ ले, घर में बहू बन के रह!

अरे तू तो तब पैदा भी नहीं हुआ था, बालम!—गदल ने मुस्क-राकर कहा—तब से मैं सब जानती हूँ। मुझे क्या सिखाता है तू? ऐसा कोई मैंने काम नहीं किया है, जो बिरादरी के नेम के बादर हो। जब तू देखे, मैंने ऐसी कोई बात की हो, तो हजार बार रोक, पर सौत की ठसक नहीं सहूँगी।

तो बताऊँ तुझे!—वह सिर हिल कर बोला।

गदल हँसकर ओबरी में चली गयी और काम में लग गयी।

ठंडी हवा तेज हो गयी थी। डोड़ी चुपचाप बाहर छप्पर में बैठा हुक्का पी रहा था। पीते पीते ऊब गया और उसने चिलम उलट दी और फिर बैठा रहा।

खेत से लौटकर निहाल ने बैल बाँधे, न्यार डाला और कहा—काका!

डोड़ी कुछ सोच रहा था उसने सुना नहीं।

काका!—निहाल ने स्वर उठाकर कहा।

हूँ!—डोडी चौंक उठा—क्या है? मुझसे कहा कुछ?

तुमसे न कहूँगा तो कहूँगा किससे? दिन भर तो तुम मिले नहीं। चिम्मन कढ़ेरा कहता था, तुमने दिन भर बाबा की धूनी के पास बिताया। यह सच है?

हाँ बेटा, चला तो गया था।

क्यों गये थे भला?

ऐसे ही जी किया था, बेटा।

और कस्बे से वनिये का आदमी आया था, घी कटाऊ क्या कसाया, मैंने कहा नहीं है, वह बोला, लेके जाऊँगा। झगड़ा होते-होते बचा।

ऐसा नहीं करते, बेटा।—डोड़ी ने कहा—बौहर से कोई झगड़ा मोल लेता है?

निहाल ने चिलम उठायी, कण्डों में से आँच बीन कर धरी और फूंक लगाता हुआ आया। कहा—मैं तो गया नहीं। सिर फूट जाते। नरायन को भेजा था।

कहाँ!—डोड़ी चौंका।

उसी कुलच्छनी कुलबोरनी के पास।

अपनी माँ के पास?

न जाने तुम्हें उससे क्या है, अब भी तुम्हें उसपर गुस्सा नहीं आता। उसे माँ कहूँगा मैं?

पर बेटा, तू न कह, जग तो उसे तेरी माँ ही कहेगा। जब तक मरद जीता है, लोग बैयर को मरद की बहू कहकर पुकारते हैं, जब मरद मर जाता है, तो लोग उसे बेटे की अम्मा कहकर पुकारते हैं। कोई नया नेम थोड़ा ही है।

निहाल भुनभुनाया। कहा—ठीक है, काका, ठीक है, पर तुमने अभी तक यह तो पूछा ही नहीं कि क्यों भेजा था उसे?

हाँ, बेटा।—डोड़ी ने चौंककर कहा—यह तो तूने बताया ही नहीं! बता न?

दण्ड भरवाने भेजा था। सो पँचायत जुड़वाने के पहले ही उसने तो गहने उतार फेंके।

डोड़ी मुस्कराया। कहा—तो वह यह जता रही है कि घरवालों ने पंचायत भी नहीं जुड़वायी? यानी हम उसे भगाना ही चाहते थे।

नरायन ले आया ?

हाँ ।

डोड़ी सोचने लगा ।

मैं फ़ेर आऊँ ?— निहाल नें पूछा ।

नहीं; बेटा। डोड़ी ने कहा—वह सचमुच रूठकर ही गयी है। और कोई बात नहीं है। तूने रोटी खा ली ?

नहीं ।

तो जा। पहले खा ले ।

निहाल उठ गया, पर डोड़ी बैठा रहा। रात का अँधेरा साँझ के पीछे ऐसे आ गया, जैसे कोई पर्त्त उलट गयी हो ।

दूर ढोला गाने की आवाज आने लगी । डोड़ी उठा और चल पड़ा।

निहाल ने बहू से पूछा—काका ने खाली ?

नहीं तो।

निहाल बाहर आया । काका नहीं थे ।

काका!—उसने पुकारा ।

राह पर चिरंजी पुजारी गढ़वाले हनुमान जी के पट बन्द करके आ रहा था । उसने पूछा—क्या है; रे ?

पाय लागूँ पंडितजी ।—निहाल ने कहा— काका अभी तो बैठे थे...

चिरंजी ने कहा—अरे, वह वहाँ ढोला सुन रहा है । मैं अभी देखकर आया हूँ ।

चिरंजी चला गया, निहाल ठिठका खड़ा रहा । बहू ने झाँककर पूछा—क्या हुआ ?

काका ढोला सुनने गये हैं !—निहाल न अविश्वास से कहा—वे तो नहीं जाते थे।

जाकर बुला ले आओ। रात बढ़ रही है ।—बहू ने कहा । और रोते बच्चे को दूध पिलानें लगी ।

निहाल जब काका को लेकर लौटा, तो काका की देही तप रही थी।

हवा लग गयी है और कुछ नहीं।—डोड़ी ने छोटी खटिया पर अपनी निकली टाँगें समेट कर लेटते हुए कहा—रोटी रहने दे, आज जी नहीं चाहता।

निहाल खड़ा रहा। डोड़ी ने कहा—अरे, सोच तो, बेटा। मैंने ढोला कितने दिन बाद सुना है। उस दिन भैया की सुहाग रात को सुना था, या फिर आज...

निहाल ने सुना और देखा, डोड़ी आँख मीचकर कुछ गुनगुनाने लगा था...

६

शाम हो गयी थी। मौनी बाहर बैठा था। गदल ने गरम-गरम रोटी और आम की चटनी ले जाकर खाने को धर दी।

बहुत अच्छी बनी है।—मौनी ने खाते हुए कहा—बहुत अच्छी है।

गदल बैठ गयी। कहा—तुम एक ब्याह और क्यों नहीं कर लेते अपनी उमरि लायक ?

मौनी चौंका। कहा—एक की रोटी भी नहीं बनती।

नहीं।—गदल ने कहा—सोचते होंगे सौत बुलाती हूँ, पर मरद का क्या ? मेरी भी तो ढलती उमरि है। जीते जी देख जाऊँगी तो ठीक है। न हो तो हुकूमत करने को तो एक मिल ही जायेगी।

मौनी हँसा। बोला—यों कह। हौंस है तुझे, लड़ने को कोई चाहिए।

खाना खाकर उठा, तो गदल हुक्का भरकर दे गयी और आप दीवार की ओट में बैठकर खाने लगी।

इतने में सुनायी दिया—अरे, इस बखत कहाँ चला ?

जरूरी काम है, मौनी।—उत्तर मिला। पेसकार साब ने बुलवाया है।

गदल ने पहचाना। उसी के गाँव का तो था, धोद्या मैना का

चूँदा गिर्राज ग्वारिया। जरूर पेसकार की गाय को चराने की बात होगी।

अरे तो रात को जा रहा है ? —मौनी ने कहा—ले चिलम तो पीता जा।

आकर्षण ने रोका। गिर्राज बैठ गया। गदल ने दूसरी रोटी उठायी। कौर मुँह में रखा।

तुमने सुना ?—गिर्राज ने कहा और दम खींचा।

क्या ?मौनी ने पूछा।

गदल का देवर डोड़ी मर गया।

गदल का मुँह रुक गया। जल्दी से लोटे के पानी के सँग कौर निगला और सुनने लगी। कलेजा मुँह को आने लगा।

कैसे मर गया ?—मौनी ने कहा। वह तो भलाचंगा था !

ठंड लग गयी। रात उघाड़ा रह गया।

गदल द्वार पर दिखायी दी। कहा—गिर्राज !

काकी !—गिर्राज ने कहा—सच। मरते बखत उसके मुँह से तुम्हारा नाम कढ़ा था, काकी ! बिचारा भला मानस था।

गदल स्तब्ध खड़ी रही।

गिर्राज चला गया।

गदल ने कहा—सुनते हो ?

क्या है री ?

मैं जरा जाऊँगी।

कहाँ ?—वह आतंकित हुआ।

वहीं।

क्यों ?

देवर मर गया है न ?

देवर ! अब तो वह तेरा देवर नहीं।

गदल हँसी झनझनाती हुई हँसी—देवर तो मेरा अगले जनम में

भी रहेगा। वही न मुझ से रुखाई दिखाता, तो क्या यह पाँव कटे बिना उस देहली से बाहर निकल सकते थे ? उसने मुझसे मन फेरा, मैंने उससे। मैंने ऐसा बदला लिया उससे !

कहते-कहते वह कठोर हो गयी।

तू नहीं जा सकती।—मौनी ने कहा।

क्यों ?—गदल ने कहा—तू रोकेगा ? अरे, मेरे खास पेट के जाये मुझे रोक न पाये ! अब क्या है ? जिसे नीचा दिखाना चाहती थी, वही न रहा और तू मुझे रोकनेवाला है कौन ? अपने मन से आयी थी, रहूँगी, नहीं रहूँगी, कौन तूने मेरा मोल दिया है ! इतना बोल तो भी लिया तू, जो होता मेरे उस घर में, तो जीभ कढ़वा लेती तेरी

अरी चल-चल !

मौनी ने हाथ पकड़कर उसे भीतर धकेल दिया और द्वार पर खाट डालकर लेटकर हुक्का पीने लगा।

गदल भीतर रोने लगी, परन्तु इतनी धीरे कि उसकी सिसकी तक मौनी नहीं सुन सका। आज गदल का मन बहा जा रहा था।

रात का तीसरा पहर बीत रहा था। मौनी की नाक बज रही थी। गदल ने पूरी शक्ति लगाकर छप्पर का कोना उठाया और साँपिन की तरह उसके नीचे से रेंगकर दूसरी ओर कूद गयी।

मौनी रह-रहकर तड़पता था। हिम्मत नहीं होती थी कि जाकर सीधे गाँव में हल्ला करे और लट्ठ के बल पर गदल को उठा लाये। मन करता, सुसरी की टाँगें तोड़ दे। दुल्लो ने व्यंग भी किया कि उसकी लुगाई भागकर नाक कटा गयी है, खून का-सा घूँट पीकर रह गया। गूजरों ने जब सुना, तो कहा—अरे बुढ़िया के लिए खून-खराबी करायेगा ? और अभी तेरा उसने खरच ही क्या कराया है। दो जून रोटी खा गयी है, तो तुझे भी तो टिक्कड़ खिला कर ही गयी है ?

मौनी का क्रोध भड़कता।

चोट्या का गिरजि सुना गया था।

जिस वक्त गदल पहुँची, पटेल बैठा था। निहाल ने कहा था—खबरदार ! भीतर पाँव न धरियो ! क्यों लौट आयी है ?

पटेल चौंका था। बोला अब क्या लेने आयी है, बहू ?

गदल बैठ गयी। कहा—जब छोटी थी तभी मेरा देवर लट्ठ बाँध मेरे खसम के साथ आया था। इसी के हाथ देखती रह गयी थी मैं तो। सोचा था, मरद है, इसकी छत्तर-छाया में जी लूंगी। बताओ, पटेल, वह ही जब मेरे आदमी के मरने के बाद मुझे न रख सका, तो क्या करती ? अरे, मैं न रही, तो इनसे क्या हुआ ? दो दिन में काका उठ गया न ? इनके सहारे मैं रहती तो क्या होता ?

पटेल ने कहा—पर तूने बेटा-बेटी की उमर न देखी, बहू !

ठीक है,—गदल ने कहा—उमर देखती कि इज्जत, यह कहो। मेरी देवर से रार थी, खतम हो गयी। ये बेटा हैं, मैंने कोई बिरादरी के नेम के बाहर की बात की हो, तो रोककर मुझपर दावा करो। पंचायत में जवाब दूंगी। लेकिन बेटों ने बिरादरी के मुँह पर थूका, तब तुम सब कहाँ थे ?

सो कब ?—पटेल ने आश्चर्य से पूछा।

पटेल न कहेंगे तो कौन कहेगा ? पच्चीस आदमी खिलाकर टाल दिया मेरे मरद के कारज में !

पर पगली यह तो सरकार का कानून था।

कानून था !—गदल हँसी—सारे जग में कानून चल रहा है, पटेल ? दिन-दहाड़े भैंस खोलकर लायी जाती है। मेरे ही मरद पर कानून था ? यों न कहोगे, बेटों ने सोचा, दूसरा अब क्या धरा है, क्यों पैसा बिगाड़ते हो ? कायर कहीं के !

निहाल गरजा—कायर ? हम कायर तू सिंघनी ?

हाँ मैं सिंघनी !—गदल तड़पी—बोल तुझमें है हिम्मत ?

बोल !—वह भी चिल्लाया।

जा, बिरादरी कारज में न्यौता दे काका के ?—गदल ने कहा।

निहाल सकपका गया। बोला—पुलस...

गदल ने सीना ठोंक कर कहा—बस ?

लुगाई बकती है।—पटेल ने कहा—गोली चलेगी, तो ?

गदल ने कहा—धरम-धुरन्दरों ने तो डुबा ही दी। सारी गुजरात ही डूब गयी, माधो। अब किसी का आसरा नहीं। कायर-ही-कायर बसे हैं।

फिर अचानक कहा—मैं करूँ परबन्ध ?

तू ? —निहाल ने कहा।

हाँ, मैं !—और उसकी आँखों में पानी भर आया। कहा—वह मरते बखत मेरा नाम लेता गया है न, तो उसका परबन्ध मैं ही करूँगी।

मौनी ने आश्चर्य से सुना था गिर्राज ने ही बताया था कि कारज का जोरदार इंतजाम है। गदल ने दरोगा को रिश्वत दी है। वह उधर आयगा ही नहीं। गदल बड़ा इन्तजाम कर रही है लोग कहते हैं, उसे अपने मरद का इतना गम नहीं हुआ था, जितना अब लगता है।

गिर्राज तो चला गया था, पर मौनी में विष भर गया था। उसने उठते हुए कहा—तो गदल ! तेरी भी मन की होने दूं, सो गोला का मौनी नहीं। दरोगा का मुँह बन्द करदे, पर उससे भी ऊपर एक दबीर है। मैं कस्बे में बड़े दरोगा से शिकायत करूँगा।

कारज हो रहा था। पाँतें बैठतीं, जीमतीं, उठ जातीं और कढ़ाव से पुए उतरते।

बाहर मरद इन्तजाम कर रहे थे, खिला रहे थे। निहाल और नरायन ने लड़ाई में मँहगा नाज बेचकर जो घड़ों में नोटों को चाँदी बनाकर डाला था, वह निकली और बोहरे का कर्ज चढ़ा। पर डाँग में लोगों ने कहा—गदल का ही बूता था। बेटे तो हार बैठे थे। कानून क्या बिरादरी से ऊपर है ?

गदल थक गई थी औरतों में बैठी थी। अचानक द्वार में सिपाही सा दीखा। बाहर आ गयी। निहाल सिर झुकाये खड़ा था।

क्या बात है, दीवान जी ?—गदल ने बढ़कर पूछा।

स्त्री का बढ़कर पूछना देख दीवान सकपका गया।

निहाल ने कहा—कहते हैं कारज रोक दो।

सो कैसे ?—गदल चौंकी।

दरोगा जी ने कहा है।—दीवानजी ने नम्र उत्तर दिया।

क्यों ? उससे पूछकर ही तो किया जा रहा है।—उसका स्पष्ट संकेत था कि रिश्वत दी जा चुकी है।

दीवान ने कहा—जानता हूँ, दरोगा जी तो मेल मुलाकात मानते हैं, पर किसी ने बड़े दरोगा जी के पास शिकायत पहुँचायी है, दरोगा जी को आना ही पड़ेगा। इसी से उन्होंने कहला भेजा है कि भीड़ छाँट दो। वर्ना कानूनी कार्यवाई करनी ही पड़ेगी।

क्षण भर गदल ने सोचा। कौन होगा वह ? समझ नहीं सकी। बोली दरोगाजी ने पहले नहीं सोचा था यह सब, अब बिरादरी को उठा दें ? दीवान जी, तुम भी बैठकर पत्तल परोसवा लो। होगी सो देखी जायेगी। हम खबर भेज देंगे, दरोगा आते ही क्यों हैं ? वे तो राजा हैं।

दीवानजी ने कहा—सरकारी नौकरी है। चली न जायेगी ? आना ही होगा उन्हें।

तो आने दो !—गदल ने चुभते स्वर से कहा—आदमी का वजन वजन एक बार का होता है। हम बिरादरी को नहीं उठा सकते।

नारायन घबराया। दीवानजी ने कहा—सब गिरफ्तार कर लिये जायँगे। समझी ! राज से टक्कर लेने की कोशिश न करो।

अरे तो राज क्या बिरादरी से ऊपर है ?—गदल ने तमक कर कहा—राज के पीसे तो आज तक पिसे हैं, पर राज के लिए धरम नहीं छोड़ देंगे, सुन लो! तुम धरम छीन लो, तो हमें जीना हराम है!
गदल पाँव धमाके से धरती चली गयी।

तीन पाँतें और उठ गयीं, अंतिम पाँत थी।

निहाल ने अँधेरे में देखकर कहा—नरायन, जल्दी कर। एक पाँत

बची हैं न ?

गदल ने छप्पर की छाया में से कहा—निहाल !

निहाल गया।

डरता है ?—गदल ने पूछा।

सूखे होठों पर जीभ फेरकर उसने कहा—नहीं।

मेरी कोख की लाज करनी होगी तुझे।—गदल ने कहा—तेरे काका ने तुझको बेटा समझकर अपना दूसरा ब्याह नामंजूर कर दिया था। याद रखना, उसके और कोई नहीं।

निहाल ने सिर झुका लिया।

भागा हुआ एक लड़का आया।

दादी !—वह चिल्लाया।

क्या है रे ?—गदल ने सशंक होकर देखा।

पुलिस हथियारबन्द होकर आ रही है।

निहाल ने गदल की ओर रहस्य-भरी दृष्टि से देखा।

गदल ने कहा—पाँत उठने में ज्यादा देर नहीं है।

लेकिन वे कब मानेंगे ?

उन्हें रोकना होगा।

उनके पास बन्दूकें हैं।

बन्दूकें हमारे पास भी हैं, निहाल।—गदल ने कहा—डाँग में बन्दूकों की क्या कमी ?

पर हम फिर क्या खायेंगे !

जो भगवान देगा।

बाहर पुलिस की गाड़ी का भोंपू बजा। निहाल आगे बढ़ा। दरोगा ने उतर कर कहा—यहाँ दावत हो रही है ?

निहाल भौंचक रह गया। जिस आदमी ने रिश्वत ली थी, अब वह पहचान भी नहीं रहा था !

हाँ। हो रही है।—उसने क्रुद्ध स्वर में कहा।

पच्चीस आदमी से ऊपर हैं ?

गिनकर हम नहीं लिखाते, दरोगा जी।

मगर तुम कानून तो नहीं तोड़ सकते ?

कानून राज का कल का है, मगर बिरादरी का कानून सदा का है, हमें राज नहीं लेना है, बिरादरी से काम है।

तो मैं गिरफ्तारी करूँगा।

गदल ने पुकारा—निहाल !

निहाल भीतर गया !

गदल ने कहा—पंगत खतम होने तक इन्हें रोकना ही होगा !

फिर ?

फिर सब को पीछे से निकाल देंगे। अगर कोई पकड़ा गया, तो बिरादरी क्या कहेगी ?

पर ये वैसे न रुकेंगे। गोली चलायेंगे।

तू न डर। छत पर नरायण चार आदमियों के साथ बंदूकें लिये बैठा है।

निहाल काँप उठा। उसने घबराये हुए स्वर से समझाने की कोशिश की—हमारी टोपीदार हैं, उनकी राइफल हैं।

कुछ भी हो, पंगत उतर जायेगी।

और फिर ?

तुम सब भागना।

हठात् लालटेन बुझ गयी।

धायँ-धायँ की आवाज आयी। गोलियाँ अँधकार में चलने लगीं।

गदल ने चिल्ला कर कहा—सौगंध है, खाकर उठना।

पर सब को जल्दी की फिकर थी।

बाहर धायँ-धायँ हो रही थी। कोई चिल्ला कर गिरा।

पाँत पीछे से निकलने लगी।

जब सब चले गये, गदल ऊपर चढ़ी। निहाल से कहा—बेटा !

उसके स्वर की अखंड ममता सुन कर निहाल के रोंगटे उस हलचल

में भी खड़े हो गये। इससे पहले कि वह उत्तर दे, गदल ने कहा—तुझे मेरी कोख की सौगंध है। नरायण को और बहू-बच्चों को लेकर निकल जा पीछे से।

और तू ?

मेरी फिकर छोड़ ! मैं देख रही हूँ तेरा काका मुझे बुला रहा है।

निहाल ने बहस नहीं की। गदल ने एक बंदूक वाले से भरी बंदूक लेकर कहा—चले जाओ सब, निकल जाओ।

संतान के मोह से जकड़े हुए युवकों को आपत्ति ने अंधकार में विलीन कर दिया।

गदल ने घोड़ा दबाया। कोई चिल्ला कर गिरा। वह हँसी। विकराल हास्य उस अंधकार में गूँज उठा।

दारोगा ने सुना, तो चौंका। औरत ! मरद कहाँ गये ! उसके कुछ सिपाहियों ने पीछे से घेरा डाला और ऊपर चढ़ गये। गोली चलायी। गदल के पेट में लगी।

युद्ध समाप्त हो गया। गदल रक्त से भीगी हुई पड़ी थी। पुलिस के जवान इकट्ठे हो गये।

दरोगा ने पूछा—यहाँ तो कोई नहीं ?

हुजूर ! एक सिपाही ने कहा—यह औरत है।

दरोगा आगे बढ़ गया। उसने देखा और पूछा—तू कौन है ?

गदल मुस्करायी और धीरे से कहा—कारज हो गया, दरोगा जी। आत्मा को शांति मिल गई।

दरोगा ने झल्ला कर कहा—पर तू है कौन ?

गदल ने और भी क्षीण स्वर से कहा—जो एक दिन अकेला न रह सका, उसी की······

और सिर लुढक गया। उसके होंठों पर मुस्कराहट ऐसी दिखाई दे रही थी, जैसे अब पुराने अंधकार में जला कर लाई हुई...पहले की बुझी लालटेन......

मार्कण्डेय

एक दिन की डायरी

मन भी अजीब है—कभी-कभी भागता है, खूब भागता है—भड़के हुए बैल की तरह, मनमाना, स्वच्छंद, और जो उसे पकड़ने की कोशिश करो, बाँधने की सोचो, तो जाने कैसे, कहाँ से निकल कर फिर दूर—बहुत दूर हो रहता है।

और कभी-कभी तो जी में आता है, किसी ततैया के छत्ते के ठीक नीचे खड़े हो कर उसे छेड़ें और खड़े रहें। लेकिन, न जाने क्यों, लगता है कि बींधने से सारा शरीर बेचैन हो उठा है, और बरफ़-सी शीतल और सुकुमार उँगलियाँ धीरे-धीरे रेंग कर उस दर्द को खींच रही हैं। स्नेह के आँसुओं से भीग जाने को जी होता है—खूब उघर कर, नंगा हो कर।

कभी किसी सरोवर के विश्रांत जल में डूबने से उठी लहरों का गोला देखने को मन होता है, और लगता है, जैसे अथाह गहराई में खड़े होने की ताक़त हो आयी हो, तैरना आ गया हो, दूर के चुने हुए कमल तोड़ लाने का पौरुष जाग उठा हो।

ऐसे भी अवसर जीवन में आते हैं, जब भूख लगी हो, और खाना न मिले, नींद लगी हो, पर सो न सकें, हँसना चाहें, बहुत जोर से चीख पड़ना चाहें, मन कहे, पर कर न सकें, और जब स्टोव जला कर चाय

बनाने की सोचें, तो उंगलियां जल जाएं, और माँ की याद हो आए।

—मिट्टी के, गोबर से लिपे, घर में मीठे तेल का दीया जल उठे, और बाँस की साफ-सुथरी चारपाई पर बहुत सफेद बिस्तर बिछ जाए, फिर मीठी लोरियों में—माँ की छाती में डूब जाने को, खो जाने को जी कहे। दूध-भात की कटोरियाँ देख कर घर छोड़ कर भाग जाने को हों, पर दहलीज में बैठे पापा की डाँट से निगलना ही पड़े।

लेकिन इसके बाद भी बिस्तर में काँटे उग आएँ, तकिया जलने लगे, और खटमलों की एक सेना सारी देह पर घेरा डाल दे, तो फिर टहलने को—दूर-दूर तक घूम आने को, पीछे कई वर्ष के कैलेंडर छू आने को तबीयत मचलती है। भूली-बिसरी बातों की दूकान सजा देने को जी होने लगता है, जिसमें मीठी गोलियाँ, मालपुआ से ले कर पूरियों और चट-नियों तक का मजा लेने को तबीयत आती है। बात ही बात, और कुछ नहीं क्योंकि बात से पेट भरता नहीं—संतोष हो आता है; लेकिन जो बात करने वाला ही न हो पास, और कोई मिले भी न रात के इतने बीते समय में, तो कभी-कभी डायरी लिखने की इच्छा होती है—उस दिन की डायरी, जब कालेज से लौटते ही माँ ने चूल्हे से चाय का पानी उतारते-उतारते किंचित् मुस्करा कर कहा था, "सुना, तू लेखक हो रहा है आजकल ! राम और कृष्ण ही को सुना था, जिनकी कथाएँ लिखी जाती हैं, और तू लड़कियों पर कहानी लिखता है ?"

काटो तो खून नहीं, "यह क्या कह रही हो, माँ ! किसने बताया तुमसे यह सब ?"

और वह हँस पड़ी थी, "पागल कहीं के ! अभी-अभी राय बाबू की बहू आयी थीं, उनके मकान के आधे हिस्से में जो वकील रहता था न, वह चला गया है, और उसमें सरकारी इंजीनियर आ कर रहने लगे हैं। उनकी कोई लड़की है—सुशीला, वह तेरे साथ पढ़ती है ?"

"धत् तेरे की माँ, क्या बात कर दी तुमने आते-आते, अरे वह भी कोई लड़की है, देहाती, भुच्च। अरे, उसे तो ठीक से धोती भी बाँधनी

नहीं आती—मैं उस पर कहानी लिखूंगा ?"

—और मन की परतें जैसे सूखे कपास के बीज की तरह उखड़ गयी हों। माँ की बात, हाथ की फ़ाइल, केतली, प्लेट-प्याले, सड़कें, इमारतें—सब पीछे—छह महीने पीछे।

"जरा एक बात सुनना भाई ! अलग की है।" मेरे एक साथी ने मौरपंखा की छाया में खींच कर मुझसे कहा था।

—मुझे दुःख हुआ था—अचम्भा हुआ था। अखिर तुमने अपने को पहचान लिया, लेकिन फिर कुछ संतोष भी हुआ था, कि मेरी कहानी में तुम्हारी तसवीर पहचानी गयी और तुम्हारे ही द्वारा। "लेकिन मैं कहानी की पात्र नहीं हूँ।" मित्र ने बताया, तुम दुःखी हो कर कह रही थीं। फिर एक अवसाद का कुहासा घिर आया था मन पर, और सावन की हलकी फ़ुही में मेरे मन के रेशे उड़ गये थे।

—मैं उससे बोलूंगा—जरूर बोलूंगा। कहूँगा, कि मुझे वह क्षमा कर दे, गलती से यह सब हो गया, और...पर माँ ने चाय देते हुए कहा था, "अच्छी लड़कियाँ ऐसे ही रहती हैं। राय बाबू की स्त्री ने तुम्हें शाम को घर बुलाया है। कुछ खा-पी कर मिल आना।" पर मेरा मन उड़ा जा रहा था। मैं झूठ बोलूंगा—यह कहूँगा कि गलती से उसकी तसवीर उभर आयी है, और यदि किसी के मन में वैसी ही तसवीर बसती हो, वही शोभा हो, वही तसल्ली हो उसके मन की, तो कोई क्या करे ? क्या किसी को चाहना, किसी से स्नेह करना दोष है, किसी को मन के पास देखना बुरा है ! फिर मेरे मन का वह दबा हुआ तूफान उघर गया था, जब मैंने उसके लिए पत्र लिखे थे—

'तुम्हें इस तरह तकलीफ देना मुझे अभीष्ट नहीं था सुशीला ! मैं-लज्जित हूँ तुम मुझे क्षमा कर दोगी। फिर नहीं लिखूंगा। अपनी आत्मा को मार दूँगा, अपनी आवाज का गला घोंट दूँगा। बस, तुम बुरा न मानो।" पर वह सब, जैसे बासी गुलाब की पंखुड़ियों-सा किसी अंधड़ में झड़ गया था—वे सारे पत्र आँच में तप कर राख हो गये थे—

लिफाफों में कस कर घुट गये थे।

फिर तुम मेरे लिए असंभव सी हो गयी थीं—आवाज से बाहर—पहुंच से बाहर; जैसे हवा हो ही न तुम्हारी अगल-बगल।—राय बाबू की स्त्री ने तुम्हें घर पर बुलाया है, कुछ खा-पी कर मिल आना। माँ की बात याद आ गयी थी।

और मैं गया, तो तुम्हीं पहले मिली थीं—जैसे अभी-अभी सो कर उठी हो—रूखे-रूखे से बिखरे बाल और बहुत सोच-हीन आँखें, जैसे किसी भयानक तूफान को आते देख कर भी कोई साहसी मल्लाह अपनी किश्ती का पतवार ढीली किये बैठा हो—डूबना जो नहीं है उसे, और उसी तरह तुमने कहा था—

—राय बाबू के यहाँ जा रहे थे, चलो अच्छा हुआ, जो मैं मिल गयी। मैंने ही बुलवाया था, तुम्हें। पर मैं बोल नहीं सका था। क्योंकि जिसे पहाड़ मान कर चढ़ाई की इच्छा ही मर गयी थी, वह मैदान से भी ज्यादा समतल थीं, और उसने अपने ड्राइंग रूम का दरवाजा खोल दिया था। उसी के भीतर बायीं ओर एक छोटे से कमरे में बैठे थे हम। उसके पीछे का कमरा था यह, पर बहुत सपाट—एक रैक में थोड़ी सी किताबें, एक तख्त और एक तिपाई; सब पर सफेद कपड़ा, कहीं कोई सजावट नहीं—कोई बनावट नहीं।

"लड़कियों से डरते हो!" उसने मुझे तख्त पर बैठा कर कहा था।

"नहीं तो!" मुझे जरा सहारा मिला।

वह जरा हँसी भी तो नहीं। अपने को बनाया सँवारा भी नहीं। वैसे ही, जैसे कोई विचारक लंबे चिंतन के दाप अपने किसी घर वाले से—किसी आत्मीय से—बड़े गंभीर रूप में, काम की बातें करता जा रहा हो।

जी में आया, कहूँ, रात दो बिल्लियाँ लड़ते लड़ते बिस्तर पर कूद पड़ीं, कौए ने मुन्ना के दूध-भात की कटोरी उठायी, तो छत पर डाल दिया। गनीमत समझो, कि मिल गयी, वर्ना माँ अमरीका से सैनिक

सहायता लेने जा रही थीं—क्या होता फिर तुम्हारे घर का, पर मेरे घर में चूहों का बुरा हाल है। दिखाई पड़ा नहीं कि पिता जी को सदमा हुआ राशन की कमी का—तुम्हारे पास मूसादानी होगी ?

पर बात के सिलसिले का ध्यान कर, चुप रह गया। क्या कहता, जो था, लगा, वह सब प्रेत का स्वप्न था। सत्य तो और कुछ है।

"तो बोलो कुछ। या लिख कर ही व्यक्त करते हो, अपने को !"

"नहीं तो ! पर क्या कहूँ, कुछ समझ में नहीं आता।",

"कोई नयी कहानी नहीं लिखी इधर ?"

"लिख नहीं पाया।"

"क्यों !"

मैं बोल नहीं सका।

"इसलिए कि कोई मन की लड़की नहीं मिलती।"

"हाँ ऐसा ही मानो।" मैंने बहुत साहस करके उदास मन से कहा।

"तो लड़कियों के लिए लिखते हो ?"

"नहीं तो।"

"अपने लिए ?"

"नहीं।"

"पढ़ने वालों के लिए ?"

"कह नहीं सकता।" मुझे जैसे कोई छेड़ रहा हो, इच्छा हुई, कहूँ, बहुत हो गया। अब चलूँ पर उसने बात बदल दी।

"बहुत अच्छा लिखते हो, मेरी माँ को तुम्हारी कहानियाँ बहुत पसंद है। तुम जानते हो न, कि वे यूरोपियन हैं हिंदी कम समझती हैं। मैं ही प्राय: पढ़ कर समझाता हूँ, उन्हें।" और उसने मेरी कई प्रकाशित कहानियों की बात कह डाली। बड़े ही प्यारे सुहृद की तरह बोलता थी, जैसे उसे बड़ी आशा हो मुझ से, और सफलता के लिए आश्वासन भी हो मन को।

फिर जैसे कुछ अटकते हुए उसने कहा, "जाने क्या क्या पूछने वाली

थी, तुम से। सोचा था कि, एक लिस्ट बना कर बुलाऊँ, पर सब जैसे भूल रही हूँ। एक दिन 'राम भण्डार' गयी माँ के साथ, तो सोचा तुम्हारे लिए रसगुल्ले खरीदूं, और एक दिन...हाँ...याद नहीं पड़ता ठीक...हाँ...हाँ...पिछली शरद् पूनों ही को तो—जब माँ, पापा के साथ मिर्जापुर में थीं—तुम जानते हो न, वे सरकारी इंजीनियर हैं, तो सोचा, बहुत दूर तक घूम आऊँ, तुम्हें भी बुला लूँ। साथ रहेंगे, तो बातें होती रहेंगी—उन्हीं दिनों तुम्हारी कई कहानियाँ पढ़ी थीं। अच्छा, तो जानें भी दो इन सब को। आज तो देर हो गयी है—माँ से कहा भी न होगा तुमने, वर्ना तुम्हें खाना बना कर खिलाती। मुझे बड़ा अच्छा लगता है खाना बनना।" इस तरह बहुत देर तक वह बोलती रही थी, फिर मैं चला तो कहने लगी, ",अब मिलना, तो बोलना, कोई कहानी लिखना तो बताना, मैं सुनूंगी।"

मैं सम्पूर्ण बिखर गया था उस दिन। समझ ही न सका कि कहाँ गया था। लौटा, तो कोई लालसा नजदीक न थी। वेग मन में नहीं था, रात को दिन, और दिन को रात समझने की बात न थी—यहाँ तक कि साँस का अन्दाज लेने के लिए कई बार सीने की धड़कन का सहारा लेना पड़ा। सोचा, जी रहा हूँ तो कुछ सोचता क्यों नहीं—कुछ हवाई किले क्यों नहीं बना डालता—कुछ रंगीन आसमान क्यों नहीं रचता, पर कुछ भी वैसा न हुआ। रात म नींद भी खूब आयी। सुबह उठा, तो पिछला भूल गया था।

धीरे धीरे मन वैसा हो गया, जैसे किसी मनोरम जंगल के झरने के पास बसने वाले बूढ़े का हो जाता है। कौन सा ऐसा संगीत है इसमें, जो शहर के बाबू कान लगा कर सुनते हैं, समय बर्बाद करते हैं और कड़ी धूप में घर-द्वार छोड़ कर यहाँ आते हैं।

कभी कभी किताब तक लाद देता उसके रिक्शे पर "इसे लेती जाओ! मैं गोष्ठी में जाऊँगा, तो लौटने में देर होगी। शाम को आऊँगा, तो ले लूंगा।" कभी कक्षा से निवृत होकर वह मेरे क्लास में

आ जाती, तो खड़ी रहती। फिर जब सब निकलने लगते, तो कहती "मैं घर जाऊँगी, कोई काम हो, तो दे दो।"

मैं कहता, "जाओ!" तो वह चली जाती, न चाहती, न कहती कुछ। कभी कुछ पैसे देती और कहती, 'शाम को आना तो कोई चीज लेते आना—तरकारी, टोस्ट, बटर आदि..।" और भी मैं कटता गया था—ऐसा नहीं कि उसका काम बुरा लगता था, यह तो मन ही की बात थी, पर वह गतिविधि हो गयी थी, मूर्ति की तरह निर्जीव—निर्विकार, इसलिए मैं राह बचा जाता था, कम मिलना चाहता था।

धीरे धीरे समय निकल गया पीछे, और हमनें उसका दौड़ पर मन नहीं दिया, जैसे इसे तो जाना ही था। मौसम भी अच्छे बुरे आये, पर हमें वैसा ही छोड़ गये। मुझे किसी चीज में खास रुचि नहीं रही। बहुत सोचा, तो एक कहानी बनी। एक साथी संपादक थे, मांगते थे, तो उनकी पत्रिका का पेट तो भरना ही था इसलिए लिखा; पर लगा, जैसे यह काम मैंने पहले कभी नहीं किया है।

किताबें भी फीकी-सी लगती थीं—यह सारा कितना नया इकट्ठा हो गया है पढ़ने को, और बुकस्टाल पर भी बहुत सारा खरीदना बच रहा है, पर क्या ऐसा होता है इन किताबों में—कथाओं में? स्त्री का गलत चरित्र है सर्वत्र, मन का छीला हुआ। इम्तहान भी क्या है? और यह कोर्स की किताबें! प्रकाशकों और लेखकों की भरती की सामग्री! कुछ नहीं है खास इनमें—समय में, जीवन में, कोई भी एक बिन्दु ऐसा नहीं है, जो भ्रम न हो, खिलवाड़ न हो।

उन्हीं दिनों वह पत्रिका निकली थी। मैंने कहानी देखी भी नहीं। छपी, भूल भी चला था, पर वह मिल गयी। रिक्शा रुकवा कर अपने साथ बिठा लिया।

"मिले क्यों नहीं? बुरा मान गये, ऊब गये मेरे कामों से।" उनके तन में पहली बार गर्मी देखी मैंने—आंखों में हल्की-सी सिहरन, और जी में आया, उसकी गोद में सिर डाल दूं और कहूं, 'कुछ समझ

में नहीं आता, क्या करूं, कैसे रहूं, क्या मतलब है आदमी का, उसके जीने का, रहने का, सांस लेने का ?" पर वह बोलने लगी थी, "क्यों लिखी ऐसी कहानी तुमने, यह ठीक है कि कादम्बरी की महाश्वेता का आदर्श है तुम्हारी रुचि में, पर तुम नल के समान निर्मोही हो ? सिद्धार्थ के समान त्यागी हो ? मैं फिर पहचानती हूं, अपने को वहां। मैं उदासी हूँ—यही न मतलब है तुम्हारा ?"

जी में आया चिल्ला पड़ूं। कहूं, छोड़ दो मुझे, क्यों बांध रही हो इतनी बेरहमी से ? मेरा मन टूटने के करीब है, बिखरने के पास है, बेड़ियां न डालो इसमें। पर मैं दबा बैठा रहा, कुछ भी न कह सका।

फिर कहने लगी "देख कर रास्ता बचाते हो, और बन रहे हो गौतम ? जसे वह झिड़क-सी रही हो।" शाम को आओगे घर ?

नहीं।

क्यों, अब तो गोष्ठियां भी छोड़ दी है, इधर !

तुम्हें यह सब कैसे मालूम ?

जैसे भी हो, पर काम क्या है जो नहीं आ सकोगे ? और फिर चलते चलते उसने कहा, तो आना. मां ने कई बार पूछा है, और घूमने भी चलेंगे, आज बड़ा मन है।

उस दिन फिर मैं नहीं गया, तो फिर जाना न हुआ। गर्मी आ गयी थी। हवा से वैसे ही देह जलने लगी थी, उसी में परीक्षाएं हुईं, और हम कहाँ से कहाँ हो रहे। बहुत लू आयी उस साल। आदमी भुन के रह गया, खड़े खड़े पेड़ सूख गये, और कुओं में पानी न रहा। जानवर भूखों मरने लगे। इसी बीच पचास वर्ष के रामू दादा, पाँच सौ रुपये में एक बहू लाये। गाँव में बड़ी बात रही, कि लड़की का बाप खाए बिना मर रहा था। पेट कहीं धरम बचने देता है ? बेचारे ने जान बूझ कर थोड़े ही लड़की बेची। दुलारी के बाप के ऊपर तो आसमान फट पड़ा—रोता चीखता फिरा, पर बिरादरी में सुनवाई न हुई। क्यों

उसने उस लफंगे रिश्तेदार को घर में टिकाया। आज की बात थोड़ी ही थी। वर्षों से वह शहर से आता, तो महीनों रह जाता। कहते हैं, रिश्ता चलता है और इधर तो हारे-गाढ़े मदद भी कर देता था, पैसे भी दे जाता था, पर दुलारी को इस तरह उड़ा ले जाने पर बिरादरी भला कैसे मानती। भोज-भात, डाँढ़-बाँध कुछ तो होगा ही उस पर। उस समय मैं गाँव में था। सोचता, यह सब क्या हो रहा है। बहुत जी अकुलाया, बहुत ऊबा, पर मैं शहर न आया।

माँ ने बुलाया, पत्र डाला, अन्त में तार दिया, पर मैं न गया। सुशीला की शादी हो गयी, वह चली गयी, तुम्हें पूछती थी। यह सब भी लिखा, पर मैं न जा सका। जी ऊबता, तो मुन्नी के लिए बाजरे के डंटल से बंदूक बना देता, पर किताबें देख कर बुखार सा लगता। बहुत जोर मारता, तो किसी उपन्यास का एकाध हिस्सा पढ़ कर मन खट्टा हो जाता, और लिखना तो छूट ही गया हमेशा के लिए।

धीरे धीरे बरसात के कई बादल उमड़-घुमड़ कर बरसे, पर धरती प्यासी ही रही, और पानी चाहिए था उसे। और मैं गाँव से शहर जाने को हुआ। मुन्नी बहुत रोयी, भाभी ने दही गुड़ मुँह में लगाया, और लढ़िया पर बैठा दिया। स्टेशन पहुँचा, तो गाड़ी में बहुत भीड़ थी। इधर उधर भटका, सहसा पद्मा दीख गयी—मामू की लड़की होती थी मेरे। बचपन में साथ खेले थे। लड़की थी, बाल नोच लेती थी, परेशान करती थी। पर वह क्या हो चली है, जैसे किसी अहेरी मल्लाह की फटी बाँसुरी-सी। बहुत दब कर किसी तरह नमस्कार किया, तो बगल देखकर उसने सिर का कपड़ा और खींच लिया। जाना, कि उसके पति देवता के साथ भेंट हुई, तो अनमने से मिले, फिर बताया, तो कुछ तसल्ली हुई। ब्याह हो गया था पद्मा का, पहले भी सुना था, पर देखा तो फिर सोचने लगा—ब्याही पद्मा और ब्याही सुशीला; फिर सारी ब्याही लड़कियाँ, फिर भाभी की स्नेहार्द्र आँखें तेजी से पीछे छूटने वाले गाँव के ऊपर उभर आयीं थीं। भाभी भी तो एक ब्याही लड़की चाहती

हैं। नन्हें-नन्हें से हाथ हों उसके—कमल की पंखुड़ियों की तरह। सुबह के डूबते हुए तारों जैसी आंखें और आकाश गंगा जैसा घूंघट। बेतहाशा हँसी आयी थी, यह सब सोच कर। पर शहर आ गया और मैं गाड़ी से उतर गया था।

कुछ भी मन का नहीं दीखा। पढ़ाई में रस नहीं, माँ रिसर्च के लिए बिगड़ीं, पिता ने मुँह फुलाया, पर मुझसे हुआ नहीं। अन्त में मास्टरी ले ली, एक स्कूल में छोटे बच्चों को पढ़ाता, तो मन कुछ बहल सा जाता। इसी बीच शरद् आया और बीत गया। नीम की टहनियों पर चाँद को कितनी बार बैठे देखा, पर मन अटका नहीं उस ओर। पद्मा का पीला चेहरा प्रतीत हो उठा ब्याह का—एक तबदीली की बात सोचता रहा किसी बड़े पैमाने पर—ब्याह पर। मशीन की तरह चलने लगा था, कि एक दिन स्कूल के बाद भारी तूफान आया—पेड़ उखड़ गये, बिजली के खंभे गिर पड़े और पुराने मकान ढह गये कितने। स्कूल के बरामदे में देखता, कि कैसे चलूं घर। बच्चों की बस गयी, तो फिर लौटी ही नहीं। क्या करूँ, कैसे पहुँचूं। पर रात तक तूफान नहीं गया। दस बजे के करीब भीगता भागता चल पड़ा। अंधेरा घना था, पर पानी थमा था—एकाएक बिजली चमकी और जोरों की गड़-गड़ाहट हुई। फिर बड़ी बड़ी बूंदें पड़ने लगीं। भाग कर बगल वाले मकान में घुस गया, पहचाना, तो सदमा हुआ—सुशीला का मकान। तब तक खिड़की से कोई चेहरा, मोमबत्ती की रोशनी में झाँका, और दरवाजा खुला।

"कौन ?"

जी में आया, अभी खैरियत है, फिर जैसे सकड़ों मन ओले गिर पड़े हों एक साथ। और पीछे से मोमबत्तियों की रोशनी में दो पर-छाइयां हिलीं।

"यह तो मैं हूँ ?"

"तुम ! इतनी रात गये।" सुशील डरी नहीं थी, पर घबराहट

थी आवाज में। बताया सब तो अन्दर जाना हुआ, कपड़े बदलते हुए और उसी ड्राइंग-रूम में बैठना हुआ। एक बार पद्मा का चेहरा आँखों में नाचा, पर सुशीला तो वसी ही है। निश्छल अहेरी सी पुतलियां, जैसे किसी काजल की कोठरी से लौटा हुआ कोई बे दाग योद्धा। मन के किसी कोने पर किवाड़ नहीं।

"अच्छा हुआ, जो भेंट हो गयी. वर्ना बुलाने वाली थी, खाना लाती हूँ।"

मेरे खाते समय वह बैठी, आंचल से मोमबत्ती को हवा से बचाती रही।

"बहुत मन करता था, तुमसे बात करने को।"

"कैसी हो ? दुबली लगती हो पहले से।"

हां शादी हुई न मेरी, ससुराल से आई हूँ; पर तुम्हें क्या पता होगा ?"

"मां ने बताया था।"

"कब ?"

'उसी समय।"

"तो तू आया क्यों नहीं ?"

'मन नहीं हुआ।"

"अच्छा ही किया। क्या करने आता, बड़ी गर्मी थी।"

"मन कैसा है ?"

"बड़ा प्रसन्न, मैं दुःखी ही कब थी ? अच्छी शादी है—भले हैं लोग।"

"पर शादी के बाद......लड़कियां......"

"रहे जैसे तैसे—अपने जैसा देखा दुनिया को और तेरे लिखने पढ़ने का ?" उसकी आवाज थम गयी थी।

"नहीं लिख पाया तब से, अब तो भूल भी रहा हूँ।"

"हां उस दिन तू नहीं लौटा तो......" वह कह ही रही था, कि

जोर का झोंका आया औ मोमबत्ती बुझ गयी। "मैंने समझ लिया था कि..." उसका गला भर आया था। जैसे वह बोल न पाती हो, और मेरे हाथ उसके हाथों में आ गये थे। फिर सहसा बिजली कड़की, मकान के दरवाजे खड़खड़ा उठे—और मेरे हाथों पर दो गरम बूंदें, जैसे आकाश से चू पड़ी हों। मैं चौंक गया।

"हां, तू डर रहा है, बत्ती जला दूं ?" और किसी तरह उसने रोशनी कर दी।

"तू लिखा कर, वर्ना मुझे पाप का बोध होता है। क्यों अपने को मारता है, मैं उदासी हूँ, इसीलिएन। पहले तो तू ऐसा नहीं रहता था।" और उसका गला फिर से भर आया।" पर तू तो आया ही नहीं उस दिन...वर्ना..." वह रुक गयी, जैसे दबा गयी हो अपने को। फिर चलने लगा' तो कहने लगी—

"तू शादी करले तो अच्छा रहे, देखी नहीं कोई लड़की इधर..."

"नहीं देख पाया !"

"अच्छा देख मैं किसी दिन घर आऊँगी, तो मां से कहूँगी। लेकिन तुम आना, कुछ लिखना, तो सुनाना।"

मील भर का रास्ता, जैसे कुछ कदमों में बँध गया। बहुत सारा पास होने पर भी मन बँधा ही रहा। केवल यह संयोग ही प्रधान हो गया उस समय। पद्मा याद आयी, पर सुशीला ने उसे सीमित कर दिया। वह तो कुछ खुली ही थी—सुबह के कमल के समान। कितनी खुश थी, कुछ बोलने के रुख पर थी, तू शादी कर ले...देखी कोई लड़की...मैं सोचता रहा।

रात ग्यारह बजे घर पहुँचा, तो मां ने बेचैनी के साथ दरवाजा कर डाँट बतायी। खाने के पहले हीं जैसे किसी बोझ को उतारने के लिए कहने लगी—

"सुना तुमने ?"

"कोई घर गिर गया क्या ?"

"हाँ, वही समझो ।" आवाज में दुःख था उनकी ।

वह जो लड़की सुशीला थी न, राय बाबू के पड़ोस वाली—तुम्हारी साथी, इसी साल शादी हुई थी—जो मैंने लिखा था कि तुम्हें पूछती है। पर भगवान ही बिगड़ गया बेचारी पर । उसका आदमी तीन चार दिन हुए उसे यहाँ छोड़ गया । कहता था, कि वह ऐसी लड़की घर में नहीं रखता । जब से गयी, उससे बोलती तक नहीं थी । परायी सी बनी रही । पहले तो लोग न बोले, पर बाद में उसके पति ने छिप कर उसकी डायरी देखी, तो उसमे एक ही दिन की डायरी लिखी थी—सारा राज उसी से खुला बेचारी का । शायद किसी लड़के से वह प्रेम करती थी । राय बाबू की वहू कहती थीं कि उन्होंने उसे पढ़ा तो आंसू आ गये उनके । शायद किसी दिन उस लड़के को बुलवाया था, बाजार से सुहाग की साड़ी मँगा कर पहनी थी, शृंगार किया था, उस दिन पहली बार यह सब लिखा था । वे बता रही थीं कि उस दिन वह साथी नहीं आया। किसी बात से उदास रहता थ । यही सब, जाने क्या क्या लिखा था ।"

मैं आवाक् था—जैसे वहां न रहा होऊ । और माँ हवा से बोल रही हों ।

पर एकाएक बात का सिलसिला टूटते ही सुशील के घर मेरे हाथों पर टपकी दो गरम पानी की बूंदें जल उठीं, जैसे किसी ने लोहे की गर्म सलाख रख दी हो। मैंने उस हाथ को दूसरे हाथ से दबा लिया, पर मेरी नींद उड़ गयी थी । बाहर ओले गिरे थे, पर हवा चल रही थी ।पद्मा का चेहरा बेबसी के आंसुओं से धुल गया था । पर मुन्ना नहीं था वर्ना बाजरे से पालकी बना देता उसे इस रात…।

सत्येन्द्र शरत्

एक्सरे

दादर ब्रिज से गुजरते हुए शैवाल को सहसा, बरबस पीछे हटाया हुआ एक खयाल आ गया और बुरी तरह खाँस कर ढेर-सारा पीला कफ़ उगलते हुए उसने बहुत तीव्रता से यह महसूस किया कि अब ऐसा और अधिक नहीं चल सकता। अपने स्वास्थ्य के प्रति की गयी यह उपेक्षा उसे डस कर सदैव के लिए मिटा देगी; और उसके बड़ा बनने तथा समूचे विश्व में नहीं, तो कम से कम, भारतवर्ष-भर में अपनी ख्याति फैलाने की समस्त महत्वाकाँक्षाएँ उसके मन में ही रह जाएँगी। माना कि इस समय उसकी आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं कि वह इस महानगरी में अत्यन्त सावधानी और तन्मयता के साथ अपना इलाज करा सके और सुयोग्य डाक्टरों और उनकी कीमती दवाइयों एवं इंजेक्शनों के बिल उसी तत्परता के साथ चुका सके, जिस तत्परता से वह अपने खाने-कपड़ों की धुलाई आदि के बिल चुकाता है। तिस पर भी वह अपने दिन प्रतिदिन नष्ट होते हुए स्वास्थ्य के प्रति और अधिक उदासीन नहीं रह सकता। उसे अपनी नियमित चिकित्सा करानी ही होगी—हाँ, इतना भर अवश्य हो सकता है कि डाक्टर कोई ख्यतिप्राप्त न हो महज डाक्टर ही हो और सस्ता हो तो भी उसका काम फिलहाल

तो चल ही जाएगा। बाद की बाद में सोचा जाएगी।

वह उस समय प्रतिदिन की ही भाँति खोदादाद सर्कल के एक होटल में खाना खाने आ रहा था। डाक्टर को दिखाने का दृढ़ निश्चय कर, वह होटल की ओर न जा, सर्कल पर ही के एक उपेक्षित कोने में एक डाक्टर साहब के तिरछे लटकते हुए साइनबोर्ड की ओर मुड़ गया!

डाक्टर साहब ने उसका स्वागत किया और उसके कुर्सी लेकर बैठ जाने पर, उसका नाम पूछ कर अपने रजिस्टर में लिखते हुए वे बोले, "आपको क्या तकलीफ है?" शैवाल ने बताया कि कोइ डेढ़ एक महीने पहले जुकाम हुआ था। धीरे धीरे खांसी भी हो गयी। और अब दोनों चीजें साथ साथ चल रही हैं। कफ बहुत आता है और गले में खरिश बराबर बनी रहती है। बदन भी कुछ टूटा-टूटा सा रहता है मामूली समझ कर पहले तो रोग की तरफ कोई ध्यान ही नहीं दिया। बाद में सिरोलीन-रचि की एक बोतल ली, लेकिन उससे कुछ भी लाभ न हुआ। अब जो हालत है सो सामने ही है।

डाक्टर ने शवाल का एक एक शब्द अपने रजिस्टर में लिख लेने के बाद, स्टेथस्कोप से अच्छी तरह उसकी छाती और कमर की परीक्षा की और तब गम्भीर स्वर में कहा, "देखिए, मै खाँसी के लिए आपको दवाई दे रहा हूँ। साथ ही मेरी सलाह है कि आप फौरन अपना एक्सरे करा लीजिए। खतरे की कोई बात नहीं है, लेकिन आप नौजवान आदमी हैं, सावधानी आपको बरतनी ही चाहिए।"

शैवाल के दिल में एक सनाका-सा हो गया। डूबते से स्वर में बोला, "जी, एक्सरे की तो कोई बात नहीं, आप कहते हैं तो मैं जरूर करवाऊँगा, लेकिन फिलहाल मैं इस हैसियत में नहीं हूँ कि एक्सरे पर बीस पच्चीस खर्च कर सकूं। पिछले चंद माहों से मेरा हाथ बहुत तंग है। इस कारण अगर एक्सरे इस वक्त टाल दिया जाए, तो कोई हर्ज तो नहीं। आप मुझे अपनी दवाई देते रहिएगा न...!"

डाक्टर साहब सिर हिलाते हुए बोले, "नहीं नहीं, ऐसा कैसे हो

सकता है ? एक्सरे को टाल का मतलब है रोग को बढ़ावा देना। मान लीजिए कि अगले महीने तक रोग कुछ और शक्ल ले ले—एक्ज़मा या...फिर बात रोक, कुछ ठहर कर सोचते हुए बोले, "आप इस वक्त कितने रुपये तक खर्च कर सकते हैं ?...पन्द्रह कर सकते हैं ?"

शैवाल डूबता हुआ बोला, "इस वक्त तो एक भी नहीं कर सकता। लेकिन आप कहते हैं, तो पन्द्रह रुपये कहीं से कर्ज़ लाने की कोशिश करूँगा और अपना एक्सरे करवा लूँगा।"

'ठीक है !" डाक्टर साहब बोले, "मैं पन्द्रह में ही आपका एक्सरे करवा दूंगा, यों पच्चीस लगते हैं। दादर बी० बी० सी० आई० में 'रामकुंवर चैरिटेबिल एक्सरे इंस्टीट्यूट' है। वहाँ के डाक्टर मेरे परिचित हैं। आप मुझ से उनके लिए एक पत्र ले जाइए और पैसों का प्रबन्ध कर, इस पत्र को उन्हें देकर, अपना एक्सरे करवा लीजिए। यह बहुत जरूरी है। वैसे मैं आपको दवाई देता रहूँगा।"

शैवाल ने चुपचाप अपना सिर हिला दिया। डाक्टर साहब पैड खींच कर पत्र लिखने लगे। पत्र समाप्त कर लिफाफे पर पता लिख, शैवाल को देते हुए बोले, "मैंने इसमें सब कुछ लिख दिया है। आप जा कर अपना एक्सरे करा लीजिए। रिपोर्ट वे लोग अपने आप मेरे पास भेज देंगे।"

पत्र और मिक्सचर की शीशी ले, डाक्टर से सब हिदायतें समझ, शैवाल ने उनसे फीस की बाबत पूछ कर कुछ मिमयाते हुए पाँच का एक नोट उनके सामने रख दिया, जो उन्होंने दो तीन बार देख, अपनी उँगलियों पर एक आध बार लपेट, शैवाल की रोनी सी सूरत पर तीन चार विचित्र सी नजरें डाल कर आखिर अपनी जेब में रख ही लिया। शैवाल की जान में जान आयी वह दूकान से बाहर निकला।

आफिस पहुँच कर शैवाल सीधा मैनेजर साहब से मिला। आफिस मैनेजर उस पर थोड़े मेहरबान थे। उसे देख कर बोले, "कहिए मिस्टर शैवाल क्या बात है ?"

शैवाल ने कहा, "मैं आप से कुछ कहना चाहता था । आप इधर शायद यह नोट कर रहे हों कि पिछले कुछ दिनों से मेरी तबीयत गिरी हुई रहती है । ज्यादा काम नहीं कर पाता । अब तक तो मैंने खासी लापरवाही बरती, लेकिन अब सोच रहा हूँ कि ढंग से अपना इलाज करवा लूं, ताकि रोग बढ़ कर दूसरी शक्ल न लेने पाए !"

"जरूर......जरूर !" मैनेजर साहब ने तपाक से कहा, "आप अपने इलाज के लिए छुट्टी चाहते हैं ?......कितने दिन की ?" शैवाल मुस्कराया, बोला, "जी, छुट्टी नहीं, मुझे कुछ रुपये चाहिए—सख्त जरूरत है । अपना एक्सरे करवाना है ।" मैनेजर साहब कुछ क्षण चुप रह कर बोले, "देखिए, आप तो जानते ही हैं, हमारे यहाँ एडवांस देने का सिस्टम नहीं है, क्योंकि हम लोग तनुख्वाहें ठीक सात तारीख को दे देते हैं । इस वजह से आपको एडवांस कुछ दिलाने में तो मैं मजबूर हूँ । और कोई बात हो तो बताइए ।"

मैनेजर साहब की साफगोई पर शैवाल निराश हो गया । कुछ देर वैसा ही खड़ा रहा, फिर कहने लगा, 'अच्छा तो फिर जाने दीजिए ।" और चलने लगा ।

उसको निराश लौटते देखकर मैनेजर साहब को थोड़ी दया हो आयी, बोले, सुनिए !" और शैवाल के निकट आने पर धीमे स्वर में पूछने लगे, कितने रुपयों से आपका काम चल जाएगा ?"

"पन्द्रह रुपये एक्सरे के लिए देने होंगे ।"

शैवाल ने आशा-सूत्र पकड़ते हुए उत्तर दिया ।

"ठीक है । आप पन्द्रह रुपये मुझ से ले लीजिए और अपना एक्सरे करवा लीजिए ।" मैनेजर साहब ने पर्स में से रुपये निकालते हुए कहा ।

'बहुत-बहुत धन्यवाद !" शैवाल ने रुपये लेते हुए अपनी कृतज्ञता प्रकट की, "आपने मेरा काम चला दिया । मैं अगली तनुख्वाह पर ही..."

"ठीक है, ठीक है !" मैनेजर साहब बात वहीं रोकते हुए बोले, "तो आप एक्सरे कब करवा रहे हैं ?"

"जी कल एक बजे।" शैवाल ने कृतज्ञ स्वर में उत्तर दिया।

"अच्छा मुझे भी अपनी रिपोर्ट दिखलाइएगा कि क्या शिकायत है।" मैनेजर साहब ने वालदैन वाले लहजे में कहा, "आप लोग कमाल करते हैं। भला इस उम्र में भी एक्सरे की कभी जरूरत पड़ती है ?" और हँसने लगे।

बिना एक्सरे के ही शैवाल का मन हल्का हो गया था। वह भी हँसने लगा।

दूसरी सुबह दस बजे के लगभग शैवाल होटल में बैठा खाना खा रहा था कि बारह एक साल का लड़का काउंटर के सामने आ कर होटल के प्रोप्राइटर सरदार बलवंत सिंह से गिड़गिड़ा कर कहने लगा "सरदार जी, मुझे तीन रुपये दे दीजिए वरना आज स्कूल से मेरा नाम कट जाएगा।"

शैवास का कौर, जो हाथ से मुंह की ओर बढ़ रहा था, वहीं रुक गया उसने गर्दन घुमा कर देखा कि दुबला, साँवला सा एक लड़का नंगे पैर, नंगे सिर, कांख में तीन चार किताब कापियां दबाए बड़ी करुणा के साथ सरदार के भावहीन चेहरे को आशा भरी दृष्टि से देख रहा है। लड़के ने खाकी कमीज और खाकी ही हाफ-पेंट पहन रखी थी। सरदार ने अब उसकी ओर एक आग्नेय दृष्टि डाली और बोला, "भागो यहां से। न जाने कहां से आ जाते है ? कंगले कहीं के......"और बाद के शब्द उसकी घनी दाढ़ी व घनी मूंछों के अन्दर छिपे ओठों के बीच ही बुदबुदाते रहे। बाहर न आ पाये।

लड़का लगभग रोने पर आ गया। भरे स्वर से गिड़गिड़ाता हुआ बोला, "मैं सच कह रहा हूँ सरदार जी। अगर आज मैंने फीस के तीन रुपये जमा नहीं किये तो कल मेरा नाम कट जाएगा। मेरे मां बाप नहीं हैं। मुझे कोई फीस देने वाला नहीं है मुझ पर दया करो।

मैं तुम्हारे आगे हाथ जोड़ता हूँ।" और वह हाथ जोड़ फूट फूट कर रोने लगा।

बालक के कहने में जो सचाई और रुदन में जो दर्द था उसने शैवाल के अन्तर को छू दिया और वहीं उसी तरह बैठे बैठे सहसा उसकी आंखों के सामने कई वर्ष पहले का इससे मिलता जुलता एक चित्र थिर हो उठा' जिसमें बारह या तेरह वर्ष का एक मातृ-पितृ हीन बालक इसी प्रकार आंसू बहाते हुए कुछ अपिरिचित व्यक्तियों से अपनी स्कूल फीस के लिए गिड़गिड़ा रहा था और वे व्यक्ति उस बालक के रोने को एक छल या अभिनय समझ उसे दुत्कार रहे थे। और धीरे धीरे बचपन का वह शैवाल बालक के रूप में परिवर्तित हो गया जो शैवाल ही की तरह अत्यन्त पीड़ा के साथ कह रहा था कि 'मेरे मां बाप मर गये हैं' और जिसे मोटा सरदार रूखे स्वर में जवाब दे रहा था कि 'हम क्या करें? हमने कोई यतीमखाना खोल रखा है?......' और तब शैवाल से न हो सका कि वह खाना खतम कर सके, खाना वैसा ही छोड़ वह उठ खड़ा हुआ और बालक को ठहरने का संकेत कर मुँह हाथ धोने चला गया।

लौट कर बालक के निकट आ गया और उससे पूछने लगा, "तुम्हें फीस के वास्ते चाहिए पैसे, या किसी काम के लिए?"

बालक का रोना हल्का पड़ रहा था लेकिन दोनों गाल आंसुओं से तर हो गये थे। बहते आंसू पीते हुए उसने उत्तर दिया, जी फीस के वास्ते ही चाहिए, मैं पुछवा सकता हूँ आपके सामने।"

"किससे पुछवा सकते हो?" शैवाल ने प्रश्न किया।

"जी, अपने क्लास टीचर से।"

"कहां है तुम्हारा स्कूल?"

"किंग्स सर्कल में, एन० सी० साउथ इंडियन हाई स्कूल। मैं वहीं पढ़ता हूँ छठी क्लास में। बालक ने कुछ विश्वास पाते हुए कहा। उसके आंसू थम चले थे।

सरदारजी अब तक चुपचाप खड़े यह सब देख रहे थे, लेकिन अपने होटल में अपने ही सामने शैवाल को उस अपरिचित लड़के में दिलचस्पी लेते देख वह और अधिक खामोश न रह सके। शैवाल से बोले, "आप भी किस चक्कर में फँस रहे हैं मिस्टर ? यह तो बम्बई है। यहाँ तो इस तरह का ढोंग कर पैसे माँगने वाले हजारों टकरते हैं ? एक दिन शाम तक यहां होटल में ही बैठे रहिए, देखिए फिर, इस छोकरे-जैसे कितने आते हैं। किसी की जेब कट गयी होती है, किसी की बीबी के इस परदेस में बच्चा हो गया होता है, किसी का सामान स्टेशन पर चोरी चला गया होता है...बस ऐसों का तांता लगा ही रहता है। और देखा यह गया है कि इस तरह रो-धो कर मांगने वाले सब चार सौबीस होते हैं। मुसीबतें हम पर भी पड़ी हैं साहब, लेकिन इस तरह आंखों में आंसू हमारे कभी नहीं आये..." और अपनी बात की ताईदगी के लिए उन्होंने अपने अन्य ग्राहकों की ओर देखा जो मुस्तैदी से खाना हुए भी सरदार जी की बात पर अपने सिर हिलाए बिना न रह सके।

एक तीव्र विरक्ति से शैवाल का मन भर उठा—यह मोटा भैंसा मुसीबतों और आंसुओं की बाबत बात करता है ! इसे क्या मालूम कि मुसीबतें छटपटाते इंसान को क्या करने पर विवश कर डालती हैं।...लेकिन इस भैंसे ने मुसीबतें देखी-उठायी कहां हैं ? दागी दिल-वाला यह जानवर भले को भी अपनी तरह दागदार ही समझता है !...और उसकी 'हां' 'हां' मिलाने वाले ये काठ के चलते-फिरते खिलौने, मशीन की सभ्यता ने जिनकी समस्त मानवीय भावनाओं को स्पंज कर डाला है, ये मानवता-शून्य खिलौने एक दुःखी मानव की पीड़ा क्या समझेंगे ?...

अब शैवाल बोला, "देखो भाई, मैं तुम्हारे साथ तुम्हारे स्कूल चलता हूँ। मैं तुम्हारे क्लास-मास्टर से भी मिलूँगा और तुम्हारे हेड-मास्टर से भी, और कोशिश करूँगा कि तुम्हारी फीस माफ हो जाए। जिन बच्चों के मां बाप नहीं होते उनकी फीस तो..." और सहसा वह

रुक गया क्योंकि उसे ध्यान आ गया था कि स्कूल में फीस माफ या आधी कराने के लिए भी तो सिफारिशें चलती हैं। जिनकी खासी सिफारिश होती है उनको फीस में अवश्य ही रियायत मिलती है; बिना सिफारिशवाले की पूछ नहीं है—लाख वह बेसहरा और जरूरतमन्द हो......

एक विजयपूर्ण दृष्टि सरदार पर और खाना निगलते हुए पुन गों पर डाल शैवाल सीना फुलाए, उस बालक को हाथ का सहारा देता हुआ होटल के बाहर निकाल लाया। मुसकराते हुए उसने सुना, सरदार झेंपे स्वर में उपस्थित ग्राहकों से कह रहा था, "अभी बम्बई में नये आये हैं!" और यह सुन उसकी मुस्कराहट और बढ़ गयी थी। सड़क की पटरी पर आ कर उसने कहा, "ट्राम पकड़ लें?" बालक अब संयत स्वर में बोला, "क्यों इकन्नी खर्च करते हैं?

पैदल चलते हैं—कोई बहुत दूर नहीं है।"

शैवाल मुसकराया, 'अच्छा तो चलो।"

और रास्ता चलते चलते उस गुमसुम बालक ने धीरे धीरे अपनी गाथा शैवाल को सुना डाली। वह दक्षिण भारत का रहने वाला है। नाम शास्त्री है। पिता पढ़ाई और पूजा जाप करते थे—यही बम्बई में। पिछले वर्ष उनका देहांत हो गया है। मां बचपन में ही चल बसी थी। मजबूरन उसे अपने दूर के एक चाचा पर 'भार' बन कर रहना पड़ा। समर्थ होते हुए भी चाचा ने अपने इस 'भार' से किनाराकशी कर ली है अब हालत यह है कि वह सोता तो अपने चाचा के ही घर है लेकिन एक टाइम का खाना उन घरों में खाता है जहां अपने पिता की मृत्यु के बाद से वह पूजा करने लगा है—(पिता उसे पूजा करना गये थे, इसी पूजा की बदौलत उसे एक खाना मिल जाता है)। पहले फीस आधी थी, इस कारण पूजा में जो एक दो आने कभी कभी मिल जाया करते थे उन्हें जोड़ कर महीने भर में फीस निकल ही आती थी, लेकिन इधर पांचवीं क्लास में उसके बहुत कम नम्बर परीक्षा में आये

जिससे स्कूल वालों ने उसे पास कर छठी में तो चढ़ा दिया मगर फीस पूरी कर दी। पिछले महीने तो उसने किसी न किसी तरह जोड़ तोड़ कर फीस दे दी, मगर इस माह अब तक पैसे न जुट सके और आज आखिरी तारीख आ गयी। सुबह घर पर चाचा से पैसे माँगे तो उन्होंने बुरी तरह झिड़क दिया और मां बाप को गाली दीं। परेशानी की हालत में कुछ नहीं सूझा तो यही खयाल आया कि किसी होटल रेस्टोरेंट में चल कर माँग लूँ। ये लोग दिन भर में पचा सौ कमा लेते है, तीन रुपये इनके लिए कौन सी बडी बात होगी ? यही सोच वहाँ होटल में गया था। फिर वहाँ शैवाल मिल गया था...

बालक कहता जाता था, "जी, मैं काम करने से तो नहीं डरता। मुझ से आप कोई भी काम करवा लीजिए, मैं फौरन करूँगा, मगर मुझे पढ़ने से बहुत प्यार है। पढ़ाई छोड़ कर मैं कुछ भी न कर सकूंगा। पढ़ने के साथ मैं घर का कोई भी काम या छोटी मोटी नौकरी कर सकता हूँ। मेरी पढ़ाई में कोई हर्ज न होगा। लेकिन मैं पढ़ना नहीं छोड़ूंगा। चाहे कुछ भी क्यों न हो। अभी मैं छटी में हूँ—कम से कब बी० ए० तो मैं जरूर करूँगा!" और उसके उस पवित्र आंतरिक उत्साह से उसका पीला-पीला सा चेहरा चमकने लगा।

बालक की बात शैवाल के अन्तर को छू गयी। इस निराश्रित बालक की ही तरह चंद साल पहिले उस निराश्रित बाल शैवाल की भी तो यही कामना और साधना थी कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझता हुआ अवश्य ही उच्चतम शिक्षा प्राप्त करे। उसकी लगन ने उसकी आशा पूर्ण करा दी थी और वह एम० ए० हो गया था। यह एक अलग बात थी कि एम० ए० हो कर भी आज वह ईमानदारी और सचाई के कारण (यों कहें, अपनी व्यवहार-अकुशलता के कारण) उतना ही असहाय और उतनी ही डांवाडोल स्थिति में था जैसा अपने विद्यार्थी-काल में था। किन्तु इससे क्या, पढ़ाई क्या पैसा कमाने के लिए ही की जाती है ? आज शैवाल अपने दूसरे युनिवर्सिटी-साथियों

की तरह अपनी एम० ए० की दर्शनी हुंडी को कैश नहीं करा पाया है, मगर उसे इस बात का किंचित् भी मलाल नहीं है; क्योंकि अपनी शिक्षा से उसे ज्ञान प्राप्त हुआ है, विवेक प्राप्त हुआ है और सबसे ब ी चीज मानवीय सवेदना प्राप्त हुई है। आज वह परायी दुःख-पीड़ा कसक अधिक तीव्रता से महसूस कर पाता है! चलते चलते शैवाल ने फिर एक नज़र उस बालक को देखा जो सिर झुकाए उसके साथ कदम उठा रहा था। और तब अचानक ही शैवाल ने निश्चय किया कि नहीं, वह इस स्वप्न दर्शी बालक का दिल नहीं तोड़ेगा। वह इस बालक की सहायता करेगा और इसे ऊंची शिक्षा दिलवाने की पूरी कोशिश करेगा। यह कोई तर्क नहीं कि जब वह एम० ए० हो कर कुछ कर न सका तो यह सीधा सादा व सच्चा बालक बी० ए० होकर क्या कर लेगा? शायद तब तक समय बदल जाए और तब ईमानदार व सच्चे व्यक्तियों का आदर हो सके और उन्हें ऊपर उठने की सुविधा मिल सके। और अगर न भी मिल सके तो भी क्या, इस भोले बालक के दिल में यह अरमान तो नहीं रहेगा कि वह अशिक्षा के गहरे गर्त में ही गिरा पड़ा रह गया है। पढ़ लिख कर वह पैसे वाला आदमी न सही, एक अच्छा नागरिक तो बन सकेगा!...और शैवाल का निश्चय दृढ़ हो गया—वह अपनी आवश्यकताओं को कुछ और कम कर इस बालक की शिक्षा सम्बन्धी सहायता अवश्य करेगा।

स्कूल पहुंच कर वह शास्त्री के क्लास-टीचर से मिला। उन्होंने भी यही कहा कि "लड़के की आर्थिक स्थिति बहुत खराब है, तिस पर भी उसे शिक्षा प्राप्त करने का बहुत अधिक चाव है। उसकी लगन से वह भी बहुत अधिक प्रभावित हैं। वह स्वयं उसकी मदद करते, किंतु विवश हैं क्योंकि उनकी अपनी स्थिति ही...और फिर आजकल का टाइम..."

शैवाल ने कहा कि वह उनकी बात समझ गया है और यही कारण है कि वह इस बालक की सहायता के लिए खड़ा हुआ है। उसने

अपनी जेबें टटोली और एक्सरे के लिए रखे वही पन्द्रह रुपये निकाले और शास्त्री की उस माह की तथा अगले चार माह की फ़ीस अदा कर दी। शास्त्री और उसका क्लास-टीचर आश्चर्य से शैवाल की ओर देखते रहे। कोई कुछ न बोला। हाँ, जब फ़ीस की रसीद शैवाल ने शास्त्री की ओर बढ़ायी और कहा, "लो मिस्टर, यह तुम्हारी अगले चार माह की फ़ीस की रसीद। इसे संभाल कर रखना !" तो हाथ बढ़ाते हुए शास्त्री की आंखें डबडबा आयीं। उसने कहा कुछ नहीं, लेकिन जिस दृष्टि से उसने शैवाल की ओर देखा वह स्पष्ट कह रही थी कि इस बालक का रोम-रोम शैवाल का ऋणी है।

शैवाल ने तब एक कागज़ पर अपना पता लिख कर शास्त्री को यह कहते हुए दे दिया कि "अब जब भी फ़ीस की, या किताब कापी की, या किसी और चीज़ की तुम्हें ज़रूरत हो तो मेरे पास इस पते पर बे झिझक आ जाना !"

× × ×

अगली सुबह जब शैवाल आफ़िस पहुंचा तो उसके मैनेजर साहब ने उससे प्रश्न किया, "कहिए जनाब, एक्सरे करवा लिया ?"

शैवाल ने सोचते हुए कहा, "जी हाँ !"

"क्या रिपोर्ट आयी ?"

शैवाल ने उत्तर दिया, "जी, रिपोर्ट तो नहीं मिली !"

"कब मिलेगी ?"

शैवाल सोच में पड़ गया। धीरे से बोला, "जी, ठीक-ठीक तो नहीं कह सकता। शायद रिपोर्ट मिले भी न ! लेकिन इतना मुझे यकीन हो गया है कि रिपोर्ट मेरे 'फ़ेवर' में ही होगी।"

शैवाल ने तब उन्हें समझाना चाहा कि उसका एक्सरे तो अवश्य हो गया है, लेकिन फेफड़ों का नहीं, हृदय का हुआ है। साथ ही, एक्सरे करने वाला कोई मामूली डाक्टर नहीं था, बल्कि इस दुनिया के सब डाक्टरों का डाक्टर था, जिसने इस ढंग से एक्सरे लिया कि शैवाल को

भी पता चल गया कि इस यंत्र-चालित महानगरी के बीच रहते हुए भी उसका हृदय इतना स्पंदन रहित नहीं हुआ है कि किसी दुःखी एवं पीड़ित की वेदना को अनुभूत न कर सके। उसका हृदय (भले ही वह अस्वस्थ प्रतीत हो) अनेक स्वस्थ हृदयों से अधिक स्वस्थ है। इस कारण उसके लिए भय या चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं है। वह रोग की ओर से निश्चित हो अपने रास्ते पर आगे बढ़ सकता है। लेकिन यह तमाम बात इस कदर अस्पष्ट (Vague) थी कि शैवाल लाख प्रयास के बावजूद भी अपने मैनेजर साहब को इसे समझाने के प्रयास में सफल नहीं हो सकता था।

...और शैवाल काफी देर तक वैसे ही खड़ा, सिर खुजाता हुआ सोचता रहा कि आखिर न समझायी जा सकने वाली इस बात को मैनेजर साहब को कैसे समझाए ?...

प्रभाकर माचवे

बैंडमास्टर

नब्बन खाँ का पुश्तैनी पेशा यही था : बैंड बजाना। बाप अँग्रेजी बाज बहुत खूब बजा लेते थे। मगर तब की बात छोड़ो। तब तो रईस भी एकेक ऐसे थे कि बस एक नाच-गाने में बजवैयों की जिंदगी बना देते थे। तब 'थेटर' भी खूब चलते थे। अब का-सा सस्ता हिसाब नहीं था कि चवन्नी में पर्दे पर सुरैया देखलो चाहे कज्जन। मगर बाप ने पी भी बहुत। नतीजा यह था कि विरासत में छोड़ गये थे वे सिर्फ एक क्लेरीनेट और एक फूटा-टूटा-सा ढोल! झोंपड़ीनुमा मकान तो खैर कभी का नीलाम हो चुका था। सो अब जाकर कहीं दस बरस में बाप का कर्जा चुका पाया था। और नब्बन खाँ सोच रहे थे कि चलो, छुट्टी पायी। अब जरा दम लेंगे। शादी करेंगे। और फिर आराम से जिन्दगी गुजारेंगे। गो बाप-दादे उनके यही पेशा करते आ रहे थे, फिर भी नब्बन खाँ को कुछ बैंडमास्टरी से नफरत सी थी।

उसकी वजह थी उनका छोटा भाई, अशफाक! अब तो अशफाक हुसैन साहब बाबू बन गये। गिटपिट अँग्रेजी भी पढ़-लिख गये। अब तो भाई से पहिचान भी बतलाने में शरमाते हैं। बेटा भूल गये कि बाप ने बैंड बजाने में उम्र बिता दी। मगर दिल के अन्दर-अन्दर नब्बन खाँ कुछ

नर्म होकर सोचने लग जाते हैं—'बड़ा होनहार निकला।' कुछ मन मसोसकर सोचते रहते कि काश, हम भी कुछ पढ़-लिख लेते । मगर अब जिन्दगी बहुत आगे निकल चुकी; बाल भी सिर पर कुछ सफेद होने लगे हैं । चेहरा गरीबी और अनियमित जीवन-रीति से सिकुड़-सा गया है । इस सैंतालीस-अड़तालीस की उम्र में शादी ? उः ।

कल नब्बन खाँ ने कहीं सवेरे अशफाक को देख लिया था । किसी जलसे में वह आया था, और उस छोटे-से देहात में आप जानते हैं कि पहिले ही बहुत पिछड़ी-सी कौम में एक पढ़े लिखे का आ जाना बड़ी बात है । वह बहुत जल्द नेता मान लिया जाता है । अशफाक साहब पाकिस्तान की खूबियाँ बताने उस देहात में पधारे थे, और अपनी तकरीर के दौरानमें उन्होंने फरमाया था कि हिन्दुओं का बायकाट कर दो । बात बहुत-से मुसलमानों को जँच गयी थी और उन्होंने वहीं कसमें भी खा ली थीं कि वे ऐसा ही करेंगे । यह सब शाम को हुआ था । तब से नब्बन के दिल में एक रस्साकशी-सी चल रही थी । वह सोच नहीं पा रहा था कि क्या करें ? लाला हरशिनदास के घर में शादी थी, आज शाम को उसे अपना बैंड वहीं ले जाना था । रात को बरात में भी जाना लाजमी था । यह पुस्तैनी 'नेग, है । लाला हरकिशनदास के और नब्बन खाँ बड वाले के रिश्ते सिर्फ पैसे-कौड़ी के ही तो नहीं थे । बसथे भी महरे में कही आश्रयदाता और आश्रित कलावंत के (सामंती) रिश्ते वे थे ।

नब्बन खाँ सोचते रहे और अपनी खशखशी दाढ़ी खुजलाते रहे । जिस तंग मकान में वे रहते थे उसके आ के चबूतरे पर उन्होंने खटिया डाल रखी थी; वहीं हुक्के के नेचे को एक हाथ में पकड़े वह कुछ सोच में पड़ गये । हुक्के की चिलम पर रखे अंगारों पर राख जम आयी; सूरज भी खासा ऊँचा चढ़ आया था, मगर वह भूल गये थे कि अब क्या करें ? जवान भतीजे पीरू ने आकर कहा, "मैं आज बंसरी नहीं बजाऊँगा ।"

"क्यों ?" नब्बन खाँ ने भौहें कुछ टेढ़ी कीं ।

"हम हिंदू के घर बैंड में नहीं जायेंगे।"

और "नेग जो है। उनके सलूक हमारे साथ कभी इस तरह के नहीं रहे।"

"नहीं रहे होंगे। हम नहीं जायेंगे।"

"तुम नहीं जओगे, तुम्हारी शामत जायगी।" नब्बन खाँ ने हुक्का एक तरफ रख दिया। उनका सुर चढ़ता जा रहा था—"तो मुफ्त में टुकड़े हमारे ही घर में तोड़ोगे? क्यों—मैं इस उम्र में रात-रात-भर जगूँ, साँस फूलकर दमा हो गया है फिर भी बैंड ले जाऊँ—और आप बड़े शहजादे बने हैं जो फोकट में खाते रहेंगे।"

ताँगेवाला रसूल पीरू का दोस्त था। वह उधर से आ निकला। नब्बन खाँ ने उसी पर अपनी आग बरसानी शुरू की। गुस्सा असल में इस बात का था कि वे अशफ़ाक की बात दिल से चाहकर भी नहीं कर पा रहे थे। गुस्सा उतारने का निमित्त कारण रसूल बना। "तो ये देखो, बुरी सोहबत के नतीजे! इसी ने बिगाड़ा है तुम्हें। तुम्हारे जेहन को कीड़े खा गये हैं। ये कहाँ के गंदे खयालात तुम्हारे दिमागों में घुस आये हैं। अरे, तुम्हारे बाप दादों को इसी लाला हरकिशनदास ने पाल-पोसा था ना? अहसान फारमोश हो गये क्या?"

मगर रसूल और पीरू वहाँ सुनने के लिए कहाँ ठहरे थे। नब्बन की आँखें गुस्से से लाल थीं। चिलम के अंगारे धधक रहे थे। धूएं के चक्कर हवा में मँडरा रहे थे। मगर वे दोनों जवान लड़के बेखौफ़, बेखटके बहुत दूर निकल चुके थे। सबेरा ऐसा ही फीका-फीका निकला तब दो घंटे बाद साबिर आया।

साबिर बैंड का सबसे छोटा, मगर सबसे जरूरी हिस्सा था। लोहे की तिकोनी छड़ बजा कर ताल दिया करता था। और वैसे जब बड़े मौके पर बहुत-से बटनों वाली लाल वर्दी और जरीन फुँदों वाली टोपियाँ पहन कर अकड़ के बैंड निकलता तब झाँझ बजाया करता। नब्बन ने साबिर से अपना दुख कहा—"पीरूमियाँ अब लीडराने वतन बनने जा

रहे हैं। जरा बैंड बजाना तो ठीक से सीख लें—पेट में चूहे कूदेंगे तो लाडरी की हेकड़ी सब भूल जायँगे।"

"क्या हुआ नब्बन चचा ?"

"होता क्या ? वही रसूल आया था कम्बख्त, उसे बहकाने वाला। ले गया कहीं।"

जैसे कोई बड़ी लजीज चीज खाते हुए मुँह मटका रहा हो, ऐसे साबिर ने आँखें झिपकाते हुए शरारत-भरी मुस्कराहट से कहा—"और कहाँ गये होंगे ? वहीं वो थेटर में नाचने-गा` वाली नयी रकम आयी है न ? चाँदनी-चाँदनी-सा उसका नाम है..."

बारह बरस के बच्चे के मुँह से दुनिया की दानिशमंदी का ऐसा तजुर्बे से भरा हुआ जुमला सुन कर नब्बन कुछ अंदर से पिघल आया—"ओह, तो मेरी भूल हुई। ये हिंदू का बाईकाट और लाला हरकिशन की शादी वगैरह-वगैरह बहानेबाजी थी। असल में पीरू कहीं और ही पेचोखम में उलझे हैं।"

और फिर सामने पिंजरे में टँगी मैना की ओर देखते-देखते नब्बन-खाँ सीटी बजाने लगे और कोई भद्दा-सा गाना गुनगुनाने लगे—"उलझा है दिल तेरी बालों की लट में..." कि उसकी तंद्रा को भंग किया साबिर ने यांत्रिक ढंग से आगे की `क्ति कह कर—"देखूं ये महेताब जागा घूंघट में—ये तो सब ठीक हो गया, मगर आज के खाने-वाने का क्या सोचा है ?"

"पड़ी है कल रात की खिचड़ी देगची में। पीरू तो है ही नहीं। अशफाक भी चले गये। साबिर! जिंदगी में कोई किसी का नहीं होता। तुम सैयद को जानते हो। आजकल बड़ा-सा 'डरम' (ढोल) बजाते फिरता है। जो कुछ मिल जाता है, ढाल देता है। ऐसा पहले नहीं था। एक जमाने में उसकी आवाज भी ऐसी सुरीली थी कि हूरों के गितार क्या चीज थे ? मगर यही...यही.. जिंदगी की अव्वल और आखिरी गाँठ...यही शराब का न उतरा हुआ नशा...एक औरत

उसकी जिंदगी में आयी। और सैयद की मुहब्बत दूसरी से देखकर, नागिन की तरह उसने डँस लिया। बदला भी वह लिया कि पान में सिंदूर खिला दिया और सैयद की आवाज तब से यही फटी-सी हो गयी और अब बस अपने बम-टपा-टपटप बम-टपा-टपटप करते हुए उमर के साल टीप रहे हैं..."

साबिर ने सोचा कि जब-जब बात वह रोटी की करता है, नब्बन का दिमाग हेर-फेर कर उसी एक औरत वाले खयाल में चला जाता है। तब उसने सोचा कि शायद वह औरत की बात छेड़े, तो उसी की मारफत वह अहम सवाल—रोटी पर आ जाये। उसने भी बिल में हाथ डाल ही दिया—"नब्बन खाँ, तो तुम शादी क्यों नहीं कर लेते ?"

कुछ सनकी-सी हँसी नब्बन हँसा। चेहरे पर झुर्रियों का जाला और तन गया। आँखें जो पहिले ही मैले-काले गड्ढों में धँसी थीं, चमक उठीं। टूटे हुए दो दाँत साफ दिखाई दिये। बोल—'शादी ? हमसे अब कौन शादी करता है ?" और वह खोखली-सी हँसी में अपनी तनहाई का दर्द छिपाने लगा।

थोड़ी देर बाद करीम आया। यह बैंड की जान था, क्योंकि बैग-पाइप यही सबसे अच्छा बजा लेता था। बोला, "सुना उस्ताद, यह भी खासा मजाक रहा। आपका वो पीरू, बड़ी हाँकता था कि हिंदू के यहाँ बाजा नहीं बजायेंगे, और ये और वो। आज ही उसने थियेटर में नौकरी कर ली थी। वहाँ भी उसे कौन से सोने के कड़े मिल जाते। सऊर तो जरा भी नहीं है। और मैंने सुना है, कल जो लाला हरकिन-दास के यहाँ शादी का जलसा हो रहा है, उसमें ये थियेटरवाले नाच-गाना कर रहे हैं। आ गये न फिर हेर-फेर कर वहीं। जायेंगे कहाँ—गाँव में पैसे देनेवाला तो एक ही है—चाहे हिंदू हो या और कोई—"

नब्बन खाँ की आँखें फिर चमकी। वह सब कुछ समझ गया। बोला नहीं। कहा—"होगा, होगा। हम लोग तो गाने-बजाने की दुनियां में रहनेवाले हैं। हमें सुसरी सियासत से क्या लेना-देना है ?

जाय हिंदू भाड़ में और उनपै जलनेवाले और कौमवाले जहन्नम में !" और भी उसने दस-पाँच गाली साथ में जोड़ दी।

बहरहाल, उस शाम को गाँव के सबसे बड़े जमींदार, लाला हरि-किशनदास के यहाँ शादी हुई। उस रात बारात में नब्बन अपना बैंड ले गये थे। जागना पड़ा। आँखें वैसी ही लाल-सुरख हो रही थीं। उनके बैंड के आधे से ही लोग जुट पाये थे। बाकी को, उनके शब्दों में पीरू बहकाकर ले गया था। सैयद 'टिपटिप बूम टिप' करते जाते थे, करीम बैंडपाइप साँस फुला-फुलाकर बजा रहे थे, साबिर ने झाँझ ले लिये थे और बड़ा बाजा भी कासिम ने महारत से बजा लिया था। क्लेरोनेट नब्बन ने जी तोड़कर बजायी थी और सिर्फ कमी रह गयी थी बंसरी की, छोटे बाजे और दूसरे छोटे ढोल की। वहाँ शादी के बड़े भारी जलसे में कौन फिक्र करता है ? कुछ तो भी भड़भड़ बारात के साथ होती रहे, यही उनके संगीत के बारे में 'आलोचना के मान' थे। सिनेमा की सब नयी तर्जें क्लेरोनेट पर बजा-बजाकर जब नब्बन खाँ थक गये तब उन्होंने सबेरे की शांत, करुणार्द्र बेला में भैरवी छेड़ी—
'श्याम मोंसूं ऐंठो डोले हो—'

गानेवालों की दुनिया और होती है। वहाँ मीरा का देश किस राजनैतिक पक्ष के भौगोलिक खंड-विशेष में जाता है यह विचार मीरा के भजन गाते समय नहीं आ पाता; न वहाँ हिंदू पंडित गायक होने से मियाँ तानसेन के दरबारी कानड़े के सुर ओठों से बाहर आने में शरमाते हैं। वहाँ जाति-व्यवस्था, धर्मबंधन, वर्गभेद से परे कोई और ही सप्त स्वरद्वीपों की सृष्टि है; जहाँ रूप, रस, गंध और रंगों की एक निराली दुनिया है; जहाँ झाँझ-बीन-गिटार-आर्गन सब आ सकते हैं—जहाँ शब्द चुक गये हैं; स्वर शेष हैं। नब्बन खाँ उस रात, यह सोचकर कि उसके एक तिहाई या आधे के करीब साथी नहीं हैं उनके अभाव को अपने स्वर-सम्मोहन से पूर डालना चाहता था। उसने अपने कौशल का अनुपम प्रदर्शन किया।

दूसरी रात थियेटरवालों का तमाशा था। कोई चाँदनी-चाँदनी सा जिसका नाम है न, वह नाचनेवाली थी। और पीरू बंसी बजानेवाले थे। बैंडवाले भी वहाँ तमाशाई बने पहुंचे। नब्बन के दिल में पीरू के लिए बेहद अफसोस और गुस्सा था; मगर वह करता क्या ? इस सारे जलसे के बाद बड़े सबेरे मुहूर्त के समय, बारात बिदा होनेवाली थी। सो बैंडवालों को अपने साज-समान के साथ वहाँ पहुँचना पड़ा था। मंच से दूर, एक कोने में, मंडप के बाहर फूस तपाकर उसके पास सैयद ने अपना ढोल रख दिया था। करीम ने बाजा भीत के सहारे टिका दिया था, और साबिर ऊंघ से उँनींद आँखों से तिकोनी लोहे की छड़ के सहारे सोने की कोशिश कर रहा था।

नाच शुरू हुआ। थियेटरवालों के वाद्य नये-नये से थे और जोड़ कुछ बराबर हो नहीं पा रही थी। आखिर नब्बन से रहा न गया। उन्होंने भी अपना क्लेरोनेट हलके-हलके फूंकना शुरू कर ही दिया। पीरू उधर जल गया और ज़ोर से बंसी फूंकने लगा। मगर नब्बन की झुकी हुई पलकों के आगे चाँदनी और पीरू के प्रेम के प्रति कोई ईर्ष्या, कोई स्पर्धा, कोई क्रोध, कोई रुकावट शेष नहीं थी। वह जैसे सिर्फ एक हम-पेशेवर की मदद करना चाहता था।

ढोल के रस्से खींचकर, कुछ थपकी सा देकर सैयद भी कुछ 'बूम टपाटप' करने की सोचने लगे। रात बीतती गयी, चाँदनी ढलती जाती थी।

सबेरे के कुहासे में लाला हरकिशनदास के कारिंदे ने जो कुछ रकम दी उसे गिनकर जाकिट की जेब में डाल और साथियों में बाँटकर जब नब्बन खाँ अपने घर की ओर मुड़नेवाले रास्ते पर अकेले गुनगुनाते क्लेरोनेट लिये चले आ रहे थे तब उन्हें पीरू मिल गया। वह कुछ नजर चुराकर चलना चाहता था। नब्बन ने ही पुकारा—"पीरू, ओ ए पीरू—इधर कैसे भूल पड़े ?"

"कुछ नहीं चचा, थेटरवाले ठगते हैं। रात-भर जगाकर मजूरी दी,

तो साढ़े बारह आने ! मैंने उनसे बहुत हुज्जत की तो बोले—तुम्हारे जैसे एक ही थोड़ों हैं। हमें कइयों को देना पड़ता है। और तुम तो नये-नये हो।"

नब्बन खाँ मुस्कुराये—"साढ़े बारह आने से ज्यादह तो सरकार ने ये फूल-हार-तमाशे, ये जुल्फों के बनाव-सिंगार और सुरमे-उरमे में खर्च कर डाले होंगे।"

पीरू नीची गर्दन कर बोला—"और चाँदनी के तबलची को एक बोतल भी दी थी।"

"मतलब, आप कर्ज करके इश्क करने गये थे ?"

पीरू कुछ नहीं बोला

नब्बन ने सलाह दी—"इश्क के शौक हमारे तुम्हारे जैसे मुफलिसों के लिए नहीं होते। वे रईसों और बाबुओं को मुबारक रहें। समझे बेटा पीरू, लैला और मजनूँ थियेटर में पर्दे के आगे ही अच्छे लगते हैं। पर्दे के पीछे तो वे मनीजर के खरीदे हुए गुलाम हैं। इससे तो ये बैंड बजाना क्या बुरा है—अपना आजाद पेशा है। किसी का जोर तो नहीं। बजाये बजाये, नहीं बजाये नहीं। अपना काम किया, छुट्टी पायी। गरज हो पचास बार बुला भेजेंगे।"

"मगर मिहनत तो कुछ ज्यादह ही पड़ती है, चचा !"

"मिहनत से बचकर कहाँ जाओगे ? तुम नतीजा भी चाहो, और उसके लिए काम भी नहीं करना चाहते हो। पीरू, अब की सारी दुनिया ऐसी हो गयी है ! वह अशफाक—कल का छोकड़ा। आज लीडर बन गये हैं साहब ! वह चाहता है कि हर्रा लगे ना फिटकिरी और रंग आवे चोखा। ये हिन्दू और ये मुसलिम के चर्चे कर देना आसान है। जेलों में सड़ना, बेतें, लाठी और गोली खाना इतना आसान नहीं है। मैं पाकिस्तान और खालिस्तान की ऊँची बातें नहीं जानता। मैं सिर्फ जानता हूँ कि मैं बैंडमास्टर हूँ, मेरे बाप बैंडमास्टर रहे, मगर अब मैं भी चाहता हूँ कि मैं कोरा बैंडमास्टर ही न बना रहूँ। अशफाक के

बच्चे बैंड ही नहीं बजाते रहेंगे।" थोड़ी देर रुककर फिर नब्बन बोला—"और ये चाँदनी ? इससे मुहब्बत करते वक्त सोचा था कि ये हिंदू है कि मुसलमान ? पीरू, चाँदनी से मुहब्बत जरूर करो, मगर उससे पहिले अपनी जेब टटोल लो। घर में हँडिया खाली है और चले हैं साहब कारूँ के खजाने की खोज में।"

सबेरे फिर सैयद नब्बन खां के ओटले पर जम गये। बोले—"भाई। रात भर बदन ऐसा दुख रहा था कि जैसे पका घाव हो। अब ये इतना बड़ा ढोल गले में लटकाकर दोनों हाथ नचाने बजाने की उमर नहीं रही।"

सबेरे फिर साबिर ने नब्बन खाँ को छेड़ा—"तो चचा, बहू कब घर में लाओगे ?"

अबके नब्बन खाँ ने सूने में आँख गड़ाकर मैना का पींजरा देखने की कोशिश नहीं की। पीरू को आवाज दी—"भाई, कलवाले शादी के बताशे जो आये हैं, वो एकेक इस सैयद और साबिर को तो देना।"

पीरू ने कहा—"हमारा मुंह ऐसे पराये घर से बताशों से न मीठा करो। बात सही सही क्या है, कहो, अब तक शादी क्यों नहीं की ?"

"छोटे भाई अशफाक को पढ़ाने में ही कमाई सब चली गयी। बची-खुची फूफी जो बेवा थी, वह ले भागी। पीरू भी परसों हाथ से चला जानेवाला था। जवानों का क्या भरोसा है ! उन्हें पर होते हैं। हमारी शादी तो इसी क्लेरीनेट से हो चुकी जिंदगी-भर के लिए—" और वे प्रेम से एक नात गजल उसमें छेड़ने लगे—'तुम्हीं ने हमें राहे जन्नत दिखायी।'...

—कि उधर से बिशनचंद वकील के मुनीम "बैंडमास्टर, बैंडमास्टर" कहकर आ गये। उनके यहाँ शादी थी, और बैंड के मोल-भाव ठहराने आ गये थे। उस आठ हजार की बस्ती में नब्बन खाँ ही जो अकेले मशहूर बैंडमास्टर थे।

सैयद ढोल पर वही 'बूँम-टिपाटिपटिप' करने लगे और पीरू ने

बंसी में कोई काँपती सी धुन छेड़ दी। चाँदनी की आवाज का भीनापन उसमें याद बनकर छसक रहा था...जो कुछ पैसे पीरू ने बचाये थे, वह भी चाँदनी अपने नकली गोटे की ओढ़नी के लिए झटक ले गयी थी। और पीरू फिर वही खाली हाथ रह गये थे।

भूखा साबिर नरसों के जलसे में अशफाक की तकरीर का जोशीला हिस्सा याद करता जा रहा था। बताशे ? ख्वाब हैं।

बम टिपा टिपटिप...बम टिपा टिपटिप...

मोहन राकेश

हवामुर्ग़

अप्रैल के महीने में बर्फ़ का पड़ना अस्वाभाविक नहीं था, फिर भी रेस्ट-हाउस का चौकीदार संतराम सवेरे से कितनी बार अपने मिलने वालों से कह चुका था, "देखो जी, कैसी अनहोनी बात हो रही है ? ये कोई बर्फ़ पड़ने के दिन हैं ? मेरा ख्याल है, इसका आज के इलेक्शन पर जरूर असर पड़ेगा। घर से निकलना ही मुश्किल है, वोट देने कौन आएगा ?"

वैसे उसे स्वयं विश्वास नहीं था कि लोग वोट देने नहीं आएँगे पर बार-बार यह बात कह कर उसे कुछ संतोष का अनुभव अवश्य होता था। तीन बजे के लगभग एक भारी-भरकम बाबू रेस्ट हाउस के दो नंबर कमरे में आ कर ठहरा, तो उसका सामान खोलते हुए भी उसने कहा, "बाबू जी, आगे कभी अप्रैल के महीने में आपने इतनी बर्फ़ पड़ती देखी है ?"

पर इससे पहले कि वह बात के उत्तरार्ध तक पहुंच पाता, बाबू ने उसे आदेश दिया कि वह भाग कर उसके लिए एक गिलास गर्म पानी ले आए, क्योंकि उसे दांत साफ करने हैं। संतराम 'अभी लाया जी कह कर चला गया और जब वह लौट कर आया तो बाबू ने उसे चाय बना कर लाने का आदेश दे दिया।

चाय ला कर प्याली में उंडेलते हुए संतराम ने दूसरी तरह बातें आरंभ कीं, "बाबू जी, आज यहाँ पर म्युनिसपल कमेटी का इलेक्शन हो रहा है," और अपनी बात में बाबू की रुचि जाग्रत करने के लिए उसने तत्परता दिखलाते हुए पूछा, "चीनी एक चम्मच लेंगे, कि दो चम्मच ?"

"डेढ़ चम्मच ?" बाबू ने बिना जरा भी रुचि प्रदर्शित किए कहा।

संतराम ने चाय में चीनी मिलायी और प्याली बाबू के हाथ में देते हुए कहा, "इस बार हमारे रेस्ट--हाउस का जमादार भी हरिजन टिकट पर इलेक्शन के लिए खड़ा हुआ है।"

"अच्छा !" बाबू ने चाय का घूंट भरते हुए कहा, "देखो, वह जो मेरे जूते रखे हैं, उन पर जरा पालिश कर देना।"

संतराम बैठ कर जूतों पर ब्रश से पालिस लगाने लगा। पालिस लगाते हुए उसने कहा, "पर जी, न तो यह जमादार खास पढ़ा-लिखा है और न ही यह कभी जेल गया है, वैसे भी जात का भंगी है—भला ऐसे आदमी का कमेटी के लिए चुना जाना कहाँ तक मुनासिब है ?"

बाबू बिना कुछ कहे अपना कंबल लेकर बिस्तर पर लेट गया और एक पुस्तक के पन्ने पलटने लगा। संतराम ने जूतों के फीते निकाल दिये और एक जूते को ब्रश से रगड़ता हुआ बोला, "वैसे जी, सब मेहतर इसे वोट दें, तो यह चुना भी जा सकता है। सरकार ने भी हद कर दी। जमादार कल तक कमेटी की नालियाँ साफ करते थे, अब जा कर कमेटी की कुर्सी पर बैठा करेंगे।"

वह जूता चमक गया था। उसे रख कर दूसरा जूता उठाते हुए उसने कहा, "आज अगर यह चुन लिया गया तो मेरे लिए तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी। पहले ही हम दोनों की खटपट चलती रहती है, फिर तो एक दिन भी कटना मुमकिन नहीं होगा।"

कुछ क्षण वह चुपचाप जूते को रगड़ता रहा। फिर उसने फ़ीता

डालते हुए बोला, "अगर आज यह चुना गया तो मैं सोचता हूं कि मैं नौकरी से इस्तीफा ही दे दू। यह साहब, अपनी इज्जत का सवाल है। क्या कहते है ?"

और बाबू के फिर कुछ न कहने पर उसने जूते बाबू को दिखलाते हुये पूछा, 'क्यों जी ठीक चमक गये?"

"हाँ, इधर रख दे," बाबू ने कहा, "और जा कर मेरे लिए एक कैप्स्टन की डिबिया ले आ। "

सिगरेट लाने का आदेश पाकर जब बाहर निकला तो उसने देखा कि जमादार की बीवी बंतो लान के पौधों से फूल तोड़ रहीं है। अभी तीन-चार दिन पहले उसकी बीवी शाँति ने बंतो को फूल तोड़ने से रोका था। संतराम को लगा कि आज बंतो जानबूझ कर उन्हें चिढ़ाना चाहती है। उसके मन में क्रोध-मिश्रित खीज का उदय हुआ, पर उससे कुछ कहते नहीं बना। इसका एक कारण तो यही था कि आज उसे अपने में बंतो से कुछ कहने का नैतिक साहस नहीं मिल रहा था, और दूसरा यह कि अपने नये रंगीन वस्त्रों में बंतो आज और दिनों की अपेक्षा अधिक सुन्दर लग रही थी। संतराम को जमादार माधो से इस बात की भी इर्ष्या थी, कि उसकी पत्नी इतनी सुन्दर थी और तीन बच्चों की माँ होते हुए भी अभी लड़की-सी ही दिखाई देती थी। दूसरी ओर उसकी पत्नी शांति थी, जो अभी एक ही बच्चे की माँ थी, पर लगता था, कि उसका यौवन दस साल पीछे रह गया है—सुन्दर तो खैर वह कभी थी ही नहीं। जब शाँति बंतो को कोई आदेश देती तो स्वयं संतराम को उसका आदेश देना अस्वाभाविक लगता था, यद्यपि शाँति के शिकायत करने पर कि बंतो बात-बात में उसकी अवहेलना करती है, वह उसके अधिकार का शाब्दिक समर्थन कर दिया करता था, परन्तु कभी शाँति बंतो की उपस्थिति में उसकी सिकायत करती तो वह निष्पक्ष मध्यस्थ की तरह कहता, "अरी, आपस में झगड़ती क्यों हो ! यह सरकार का काम है और हम सब का साझा फर्ज है। आपस

में मेल-जोल के साथ रहा करो।"

बंतो के पास से निकल कर संतराम अपने क्वार्टर के आगे पहुँचा तो उसने देखा कि वहाँ शांति किसी वजह से बच्चे पर झुँझला रही है। उसके ढीले-ढाले अंग, फिर और भी ढीले-ढाले वस्त्र, और उस पर यह झुँझलाहट का भाव देख कर संतराम का अपना हृदय झुँझलाहट से भर गया। उसका मन हुआ कि उसे डाँट दे, पर फिर कुछ सोच कर वह आगे बढ़ गया। सड़क पर आकर भी उसकी झुँझलाहट शांत नहीं हुई। उसने बाबू के लिए कैप्सटन की डिबिया खरीदी और एक लैंप की डिबिया अपने लिए ले ली। एक सिगरेट सुलगाए हुए वह रेस्ट-हाउस की ओर लौटा। चलते हुए उसके मस्तिष्क में उन दिनों के धूमिल चित्र उभरने लगे, जब वह दिल्ली में बाबू गनपत लाल की थिएटर कंपनी में नौकर था। वहाँ उसका काम बिजली की फिटिंग करने का था, पर दो-एक बार बाबू गनपत लाल उसे अभिनय करने का अवसर भी दे दिया था। उस कंपनी में लगातार छह छह महीने वेतन नहीं मिलता था, पर फिर भी जिस दिन कंपनी बंद हुई थी, उस दिन उसे यही प्रतीत हुआ था कि उसके जीवन का आधार छिन गया है। वेतन तो कहीं भी काम करने से मिल सकता था, पर थिएटर कंपनी में जो कुछ मिलता था, वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ था। वहाँ भिन्ना थी, रूपी थी, सकीना थी। वह समय अब बारह साल पीछे रह गया। यह सोच कर उसे एक विचित्र-सी सिहरन का अनुभव हुआ कि भिन्ना की बेटी चंदा, जो तब आठ बरस की गुड़िया थी, अब बीस वर्ष की नवयुवती होगी। उसके कदम कुछ तेज हो गये और वह इस विश्वास के साथ चलने लगा कि उसका वास्तविक क्षेत्र थिएटर कंपनी ही है—वह यूँही रेस्ट-हाउस की चौकीदारी के दलदल में फँस कर अपना जीवन नष्ट कर रहा है।

जब उसने दो नंबर कमरे में पहुँच कर कैप्सटन की डिबिया बाबू को दी, तब भी इनका मन फिल्म कंपनी के वातावरण में खोया हुआ था। दियासलाई जला कर बाबू का सिगरेट सुलगवाते हुए उसने उससे

पूछा, "क्यों बाबू जी, आजकल उधर कहीं कोई थिएटर कंपनी नहीं चल रही ?"

"मुझे पता नहीं।" बाबू ने सिगरेट का कश खींच कर कहा।

"दरअसल बात यह है।" संतराम आवश्यकता न रहने पर भी झाड़न उठा कर कुर्सी झाड़ता हुआ बोला," चौकीदारी में तो मैं ऐसे आ फँसा हूँ, वर्ना पहले मैं दिल्ली में एक थिएटर कंपनी में ही काम करता था।"

"यहाँ तुम कब से काम कर रहे हो ?" बाबू ने पूछा।

"यहाँ जी, मुझे कोई दस ग्यारह साल हो गये।"

"तो तुम यहाँ के बहुत पुराने आदमी हो !"

"जी हाँ !" संतराम ने ये शब्द स्वभाववश ही कह दिये। वैसे वहाँ का पुराना आदमी कहलाना उस समय उसे रुचिकर नहीं लगा।

"थिएटर कंपनी में तुम कितने साल रहे हो ?" बाबू ने दूसरा प्रश्न पूछा। संतराम इस प्रश्न का निश्चित उत्तर अच्छी तरह जानता था। उस 'अपनी लाइन में उसने कुल एक साल और सात महीने बिताये थे, जिसमें से वेतन केवल आठ महीने का ही प्राप्त हुआ था। पर उत्तर देने से पहले वह जैसे मन-ही-मन गिनती करने के लिए कुछ रुका और फिर बोला, "बस जी, यहाँ आने से पहले मैं वहीं था।" और उसके होठों पर खिसियानी हँसी की रेखा प्रकट हो गयी।

कुर्सी को छोड़ कर अब अलमारी के शीशे झाड़न से साफ करता करता हुआ संतराम अपने उन दिनों के अनुभव सुनाने लगा, तो बाबू ने उसे बीच में ही रोक कर कहा कि वह जल्दी जा कर डाकखाने से दो लिफाफे और चार पोस्टकार्ड ला दे, उसे कुछ आवश्यक चिट्ठियाँ लिखनी हैं।

डाकखाने से लिफाफे और पोस्टकार्ड खरीदते हुए उसने शोर सुना कि जमादार माधो इलेक्शन जीत गया है, और कई लोग फूलों की मालाएँ पहना कर रेस्ट-हाउस की ओर ला रहे हैं। उसने लैंप का नया

सिगरेट सुलगाया और बाहर आ कर उस दिशा में देखा, जिधर से बर्फ से ढके हुए रास्ते पर तीन-चार सौ गज़ दूर कुछ लोग जमादार माधो को घेरे हुए आ रहे थे। उनके रंगीन वस्त्र बर्फ़ की सफ़ेदी के वैषम्य में और भी रंगीन लग रहे थे। वे बाहें उठा-उठा कर उत्साहपूर्वक नारे लगाते आ रहे थे। संतराम नें उस ओर से आते हुए एक नवयुवक से पूछा, "क्यों भाई, कितने वोटों से जीता है हमारा जमादार ?"

"सवा दो सौ वोटों से !" और उस नवयुवक ने साथ यह भी बताया कि रात को बड़े साहब ने जमादार को खाने पर बुलाया है।

"अच्छा !" और संतराम की आँखें विस्मय और ईर्ष्या से फैल कर रह गयीं। उसने पुनः उस दिशा में देखा, जिधर से लोग माधो के साथ जा रहे थे। वह क्षण-भर इस अनिश्चय में खड़ा रहा कि उसे वहाँ रुकना चाहिए या रेस्ट-हाउस की ओर चल देना चाहिए। फिर हाथ के कार्डों और लिफाफों की ओर ध्यान जाने पर वह जैसे बहाना पा कर रेस्ट-हाउस की ओर चल दिया।

बंतो क्वार्टर के बाहर खड़ी अपने पति को दूर से आते देख रही थी। उसके चेहरे की चमक उस समय और भी बढ़ रही थी। कुछ और भी जमादारिनें उसके पास खड़ी थीं। संतराम ने उसके पास से निकलते हुए उसे लक्षित करके कहा, "जमादारिन, माधो इलेक्शन जीत गया है। दो सौ वोटों से जीता है।"

उसने स्वर में यथासम्भव सौहार्द लाने की चेष्टा की थी, पर बंतो ने उसकी बात की ओर ध्यान नहीं दिया। वह उपेक्षापूर्ण ढंग से बोली, "हाँ, राजू अभी हमें बता गया है।"

संतरात मन-ही-मन कुछ उलझ कर दो नंबर कमरे की ओर चल दिया। जब उसने कार्ड और लिफाफे बाबू को दिये, तो उसे आदेश मिला कि यह वहीं ठहरे, अभी पत्र पोस्ट करने के लिए ले जाने होंगे। कुछ देर बाद जब वह पत्र ले कर निकला तब तक माधो के साथी, उसे लिये हुए रेस्ट-हाउस के सामने पहुँच गये थे और जोर-जोर से नारे

लगा रहे थे—"हरिजन यूनियन जिन्दाबाद" "माधो जमादार जिन्दाबाद।"

संतराम डाकखाने की ओर न जा कर पीछे के रास्ते से डेरी फार्म के लेटर-बक्स की ओर चल दिया, हालाँकि वह जानता था कि डेरी फार्म के लेटर-बक्स से दिन की अन्तिम डाक चार बजे ही निकल जाती है और उस समय साढ़े चार बज रहे थे।

दूसरे दिन सवेरे संतराम की पत्नी शाँति की सूरत कुछ और-सी हो रही थी—उसकी आँखें सूज रही थीं और चेहरे पर झाइयाँ-सा पड़ी हुइ थीं। संतराम चाय ले कर दो नंबर के कमरे में आया, तो चाय उँडेलते हुए उसने बाबू से पूछा, "क्यों साहब, जमादार कमरा साफ कर गया है ?"

"उसकी बीवी साफ कर गयी है।' बाबू ने उत्तर दिया।

"मेरे बारे में उसने कोई बात तो नहीं की ?" उसने कुछ आशंकित और खिसियाने स्वर में पूछा। 'नहीं !" बाबू ने एक शब्द में उत्तर दे कर चाय की प्याली उठा ली।

अब संतराम व्याख्या करता हुआ कहने लगा, "साहब आपको पता है न, कि जमादार कल इलेक्शन जीत गया है बड़े साहब ने कल रात को इसे और इसकी बीवी को खाने पर बुलाया था। पता नहीं इन लोगों ने वहाँ जा कर साहब के सामने मेरी क्या-क्या शिकायत की है ! मैंने सोचा कि शायद आपसे भी जमादारिन ने इस बारे में कुछ कहा हो।"

"मुझसे किसी ने कोई बात नहीं की।" बाबू ने झिड़कने के स्वर में कहा।

संतराम कुछ क्षण चुप खड़ा रहा। फिर बोला, 'साहब मेरा स्वभाव ऐसा है कि मैं किसी से लड़ना-झगड़ना पसन्द नहीं करता। पर मेरी घरवाली का अपनी जबान पर काबू नहीं है। वही रोज-रोज जमादारिन से लड़ पड़ती थी, मैंने इसे कई बार समझाया पर वह समझी नहीं। रात को फिर मुझसे नहीं रहा गया। मैंने दो-चार हाथ

ऐसे लगा दिये हैं कि अब आगे के लिए सुधरी रहेगी ।"

बाबू ने चाय की प्याली ट्रे में रखते हुए कहा कि वह ट्रे उठा कर ले जाए। संतराम ट्रे उठाता हुआ बोला, "अब तो बड़ा साहब भी जमादार की ही सुनेगा, क्यों जी ? उसने साहब के पास मेरी शिकायत कर दी तो बताइए मैं कहाँ का रह जाऊँगा। औरत जात इन चीजों को नहीं समझती। मुसीबत तो अब मेरी हो रही है, जिसकी नौकरी का सवाल है ।"

ट्रे उठाये हुए वह बाहर निकल आया। बरामदे के सिरे पर उसी जमादार माधो झाड़ू देता हुआ मिला। उसके निकट पहुँचकर संतराम खीसें निपोर कर बोला, "क्यों भई, जीत लिया इलेक्शन माधोराम ? कल सुन कर बहुत ही खुशी हुई। हम गरीब लोगों की भी अब कमेटी में सुनवाई हो जाएगी। अब लगता है कि हाँ, सचमुच में ही आजादी आयी है ।"

और क्षण भर रुक कर जब और कुछ कहने को नहीं मिला तो वह ट्रे सँभाले हुए अपने क्वार्टर की ओर बढ़ गया जहाँ उस समय शांति एक हाथ से बच्चे को पकड़े हुए गालियाँ देती हुई दूसरे हाथ से उसे पीट रही थी।

महावीर अधिकारी

ढींगर

ढींगर उसका वास्तविक नाम नहीं था। नाम बताने की सुधि उसे थी ही नहीं। भीड़ से खचाखच भरे प्लेटफार्म पर जब वह अपने मां-बाप से बिछड़ा तो मां और बाप के अतिरिक्त जैसे कोई दूसरा शब्द उसे याद ही नहीं था। फक्-फक् करता हुआ इंजन जब उसके गला फाड़-फाड़ कर चीखते रहने पर भी बेदर्दी के साथ गाड़ी को घसीट ले गया तो बालक जैसे दगड़े में फेंकी गई सीपी के समान बेपनाह पड़ा रह गया। बिना किसी दर्द के व्याकुल लोगों की भीड़ में वह कई बार कुचलते-कुचलते बचा। भीड़ कुछ हल्की होने लगी तो वह उसी तरफ भागा जिधर गाड़ी उसकी मां को ले गई थी। और वह अनजान बालक भागता-भागता न जाने कहाँ पहुंच जाता अगर शंटिंग करने वाले इंजन की दानवी चीत्कार को सुनकर उसका खून न जम गया होता। होश आते ही वह पलटकर पीछे भागा तो एक हलवाई के ठेले से टकरा गया। ठेले वाले ने कड़क कर कहा, "अबे ओ ढींगर," क्या हथकड़ी डलवायेंगा मेरे हाथों में ? पैदा होते ही सैल को निकल पड़ते हैं कम्बख्त।"

और बिना कोई दान-दक्षिणा लिए ही इस दयावान पुरोहित को उस अनाथ बालक का नामकरण करने में कोई दिक्कत नहीं हुई। पराए पूत को दुनियां ढींगर ही पुकारती है। यह ढींगर, रोते-रोते जिस की आँख सूज गई थीं, चेहरा हलकान हो गया था, सहम कर एक ओर

छूट गया। पर अब भी वह सुबक रहा था और उसके सत्वहीन कंठ से अब भी मां और बाप दो ही शब्द निकल रहे थे। ठेला हांकता हुआ जब ठेले वाला बराबर में आया तो उसने रहम खाकर बर्फी का एक टुकड़ा बालक के हाथ पर रख दिया। पर उसने वह टुकड़ा इस तरह जमीन पर फेंक दिया जैसे कि वह मिट्टी का ढेला हो और जोर-जोर से रोने लगा। ठेलेवाले ने देखा बालक हलकान हो रहा है इस नाम करण करने वाले पुरोहित को ढींगर पर फिर दया आ गई। पींठ पर हाथ फेरते हुए उसने पूछा," अबे रोता क्यों है ? तू अपनी मां के साथ था, कहाँ है तेरी मां ?"

ढींगर ने सिसकते हुए कहा—"उसमे तम्नी गई। रेल गाली में मेरी मां मुझे छोल गई।" माँ के बिना शायद हलवाई के लिए वह ढींगर निरा अपदार्थ था। बच्चे की पींठ पर रखा हुआ उसका हाथ ढीला पड़ गया। ढींगर पशु नहीं था जो दो वर्ष चारा-दाना खाकर पांच सेर दूध दे देता या हल में चलता या लादी ढोने लगता। आदमी का अंश होकर भी उसका मूल्य ठेले वाले के लिए क्या था। वह क्यों तबालत अपने गले में डाले ! उदासीन हलवाई ने आवाज देकर दस तमाशबीन और बुला लिए। सम्वेदना की उस हल्की-सी पीड़ा को उसने इस तरह हलका कर लिया।

अब एक साथ कितनी ही आवाजें, भावनाहीन और खुश्क दिलों से निकलने वाली आवाजें उसे पूछ रही थीं," अबे तू खो गया है, " ? ढींगर ने एक बार कहा " मैं नहीं, मेली मां खो गई है" और इस मासूम जवाब को सुनकर सभी ठहाका मार कर हंस लिए। आँखों में आंसू भरे वह टुकुर-टुकुर उस हृदयहीन भीड़ में अपने बापू का चेहरा खोजता रहा पर उसका बापू उसे मिला नहीं। तरह-तरह के प्रश्नों से बींध कर इन लोगों ने ढींगर को प्लेटफार्म पर घूमते हुए एक पुलिसमैन के हवाले कर दिया। अब वह बदनसीब ढींगर थाने पहुंचाया गया और दीवान जी के सामने जब उसकी पेशी हुई तो उनकी लम्बी खैरी मूंछें देखकर

उसकी चीख निकल गई। दीवान जी ने चिढ़ कर पूछा, " अरे कहां से पकड़ लाए इस ढींगर को ?"

पुलिसमैन ने कहा, —"स्टेशन पर खड़ा रोता था। शायद खो गया है।"

"क्या नाम बताया है ?"

"बस यही जो आपने अभी पुकारा था। मां-बाप से बच्चा छूटा कि बस यही एक तो नाम है जो रह जाता है उसका। इसे नाम बताने का होश नहीं है दीवान जी"। पुलिसमैन की उक्ति में थोड़ा व्यंग था, जिसे दीवान जी ने समझने की परवाह ही नहीं की थी।

थाने में ढींगर का हुलिया दर्ज कर लिया गया। सांवला रंग, पतली टांगे, बढ़ा हुआ पेट, लम्बी नाक, माथे पर काला मस्सा, बड़ी-बड़ी आंखें और भारी सिर। उम्र लगभग तीन वर्ष।

हुलिया तो दर्ज हुआ, पर अब क्या किया जाए उसका, यह एक समस्या थी। पर, थाना कोई धर्म महामात्यों का केन्द्र होता है, जो उसे वहां शरण मिलती ? क्यों कि वह गुनाहगार नहीं था। गुनाह था इसलिए थाने की हद से बाहर था। इस आशा में कि आजकल में उसे कोई खोजता हुआ आ पहुंचेगा, थाने वालों ने ढींगर को स्थानीय आर्य समाज मन्दिर भेज दिया।

मन्दिर की बड़ी इमारत में पहुंच कर छोटा ढींगर और भी अपदार्थ दिखाई देने लगा। मंत्री महोदय ने सप्ताहिक सत्संग के अवसर पर सबको ढींगर की बदनसीब उपस्थिति की सूचना दी और उसके मां-बाप के आने तक उसे शरण देने की भी लोगों से अपील की। पर उसकी बड़ी-बड़ी आंखें शिव के तीसरे नेत्र के समान भयानक थीं। पेट ऐसा कि जैसे कुबेर का कार्टून बना कर जमीन पर छोड़ दिया गया हो और सिर तो ग्लोब के तिरछे गोले के समान सधा हुआ था। सब कुछ मिला कर ढींगर एक अभिशप्त देवता के समान मालूम पड़ता था। और इस अभिशप्त देवता

को छूने का साहस पृथ्वी पर निवास करने वाले भला किस प्रकार करते।

सत्संग के शो-केस में अच्छी तरह पेश किए जाने के बाद भी ढींगर की तरफ किसी का मन जब अकृष्ट न हुआ तो निर्णय किया गया कि उसे अनाथालय भेज दिया जाय और जिस दिन यह निर्णय हो ही रहा था कि संयोग से वृद्ध महाशय रोशनलाल अचानक उधर आ निकले और ढींगर का हाथ पकड़ कर घर ले गए।

महाशय जी घर से गए थे परदेश के लिए कहकर और जब ड्योढ़ी पर ढींगर को लेकर फिर नूमदार हुए तो उनकी अध्यापिका पत्नी चकित रह गई। पंडित रोशनलाल जी ने कहा,"लो,बहुत दिन से कहती थीं,मेरी गोद खाली है, इसे रख लो"।

"ये क्या मसखरी सूझती रहती है आपको"? अध्यापिका जी बिगड़ीं ."किस जगलूल को पकड़ लाए हो ? कौन जात है"?

"जात क्या होती है। आदमी की जात है।"

"मुझे तो नीच जात मालूम होता है।"

"तब तो रख लो। तुम से जात तो मिल ही गई।" और इससे पहले अपने कुटिल वाक् प्रहारों से अध्यापिका जी अपने पति को बेहाल करतीं, वह अपनी रेशमी चादर को करीने से सवांरते हुए फिर परदेश के लिए रवाना हो गए।

अध्यापिका जी ने ढींगर को इशारे से अन्दर बुलाया लेकिन ढींगर को साहस नहीं होता था कि वह अन्दर घुसे।

अंधेरे में जब बुढ़िया की आँखें कम डरावनी लगने लगीं तो वह चुपचाप उस की गोद में जा बैठा। पहिले तो अध्यापिका जी सकपकाई, पर बच्चे का स्पर्श पाकर सहसा उन की भावुकता उभर आई। प्यार से उस के सिर पर हाथ फेरती हुई बोलीं, "क्या नाम है तुम्हारा ?"
"लल्लू" ढींगर ने तोते की तरह टोंक कर कहा।

"कहाँ से आए थे तुम ? तुम्हारी माँ तुम्हें छोड़ गई ?"

ढींगर ने अपनी सम्पूर्ण प्रतिमा का उपयोग करते हुए कहा, "मेरी माँ खो गई, उसे सिपाही पकड़ कर ले गया। हम दिल्ली गए थे हमने मन्दिल देखा और गुब्बारे लाए। तुम भी हमें गुब्बारा दिलाओगी ?"

ढींगर की वाक्पटुता देख कर वृद्धा का मन हुलस आया। बोलीं, "अरे तू बड़ा होशियार है। आज से तेरा नाम हुआ बालचन्द्र ! समझा ? तेरा नाम है बालचन्द्र।"

और फिर सोचने लगीं क्या यह हो सकता है कि यह बालक मेरे बुढ़ापे की टेक बन जाए। अपने तो सभी छोड़ कर चले गए। आज तो ऐसा लगता है कि कभी किसी ने इस कोख से जन्म ही नहीं लिया।

बालक अपना नाम बार बार दोहराता रहा और अध्यापिका जी का अतीत चलचित्र के रील की तरह उन के मानस पट पर घूमने लगा। उनका भी एक लड़का था। बहुत ही होनहार शीलवान और साधु स्वभाव। जब वह पढ़-लिख कर बड़ा हुआ तो उस का विचार हुआ कि वह भारत की खोई हुई योग-विद्या का पुनरुद्धार करेगा। चुनाँचे उसका सारा जीवन उसी सांचे में ढलने लगा। अध्यापक रोशनलाल लड़के के आचरण को देखकर जितनी उस की बड़ाई करते मां उतनी ही लड़के के रंग-ढंग देखकर अन्दर ही अन्दर कुढ़ती रहती। एक दिन अवसर पा कर वह लड़के से बोलीं, "क्यों रे गोपाल, तूने पढ़ लिख कर यही सीखा है कि दिन भर पेड़ पर मिट्टी लपेट कर लेटा रहा करे। कुछ कमाने-धमाने की फिक्र नहीं करनी है ?"

लड़के ने विनम्र स्वर में अपना मन्तव्य मां के सामने रख दिया। बेटे की बात सुन कर मां की आंखों में शोले बरसने लगे। बोलीं, "अपने बाप की चाल ही चलनी है तो जंगल में जा धूनी रमाओ।"

लड़का बात टालने के लिए चुपचाप उठ कर बाहर चला गया। मां ने सोचा यह सब दिमागी फितूर इस लिए है कि कन्धे पर कोई दायित्व नहीं है और दायित्व सौंपने के लिए उन्होंने लड़के का रिश्ता करने का पक्का इरादा कर लिया और एक जगह रिश्ता तय भी कर

लिया। दहेज में दो हजार नकद भी ठहरा लिए। गोपाल से वह बात छिपाई जा न सकी। जब लड़की वाले गोपाल को देखने आए तो उस की शिराएँ क्रोध से फड़कनें लगीं और वह माँ से बोला, "मां, आप को तो मालूम था कि मैंने अभी विवाह न करने का निश्चय किया था।"

"आखिर विवाह न करने का क्यों निश्चय किया है ? क्या दुनिया के लड़के वही करते हैं जो तुम करते हो ?"

"दुनिया के लड़के चाहे जो कुछ भी करते हों, लेकिन मैं तेली के बैल की तरह गृहस्थी के चक्कर में नहीं फंसूंगा। अकेला रह कर कुछ काम करना चाहता हूँ।" लड़के ने तमक कर कहा।

"गृहस्थ धर्म से और अच्छा क्या काम हो सकता है ?" माँ ने पूछा।

"लेकिन मैंने शादी न करने का निश्चय कर लिया है। बस, मैं इससे आगे कुछ नहीं कहना चाहता।"

"देखती हूँ, तू कैसे नहीं करेगा शादी। या तो मेरी लाश निकलेगी इस घर से या तू शादी करेगा" और फिर बिलखती हुई कहती रहीं, "हाय री दुखियारी मां, नौ महीने पेट में रखो, रात-रात भर जाग कर इन्हें पालो-पोसो और जब वह समर्थ हो जाएँ तो माँ की एक बात भी नहीं रख सकते।"

मां के क्रोधी स्वभाव से गोपाल परिचित था, उन की इस उद्विग्नता से वह घबरा गया। स्वयं निराश हो कर भी वह अपने कर्त्तव्य को भली भांति पहचानता था। विनम्र स्वर में बोला, 'मां, आप तो नाहक ही जी हल्का करती है। आप का बेटा कठोर से कठोर धर्म का पालन करने को तत्पर है। पर तुम्हीं ने तो सिखाया है कि व्यक्ति-धर्म राष्ट्र-धर्म और समाज-धर्म इन तीनों को निबाहने योग्य जो होता है उसे ही गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने का अधिकार है। मैं आप के चरणों की सौगन्ध खा कर कहता हूं कि जिस दिन मैं

अपने को इस योग्य समझूंगा शादी अवश्य करूंगा।"

लेकिन माँ की जिद थी कि पुत्र को यही रिश्ता स्वीकार करना होगा। अच्छे दान दहेज के साथ बहू भी लाखों में एक थी। गोपाल ने माँ की जिद देख कर कातर स्वर में कहा, "मुझे इतना-सा भी अधिकार नहीं देंगी ? संतान को क्या अपना भला-बुरा देखने का कुछ भी अधिकार नहीं होता ?"

और इतना कह कर उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही गोपाल चुपचाप उठ कर चला गया। रिश्ते वाले लौट गए लेकिन गोपाल घर से एक बार जो निकला तो फिर लौट कर नहीं आया। बहुत मुद्दत बाद अध्यापिका जी को किसी दूर पहाड़ी प्रांत से एक समाचार मिला, जिसमें उनके पुत्र के आत्म हत्या करने की खबर थी। पत्नी के तीखेपन से अध्यापक रोशनलाल यों भी घर से बाहर रहना पसन्द करते थे। अब की बार लौट कर आए तो फिर ऐसे गए कि विक्षिप्तावस्था में ही लौट कर आए। उस दिन से अध्यापिका के जीवन का वास्तविक संघर्ष प्रारम्भ हुआ। विवाह के साथ वह निपट निरक्षरा थीं। अपने अध्यवसाय से उन्होंने पढ़ाई लिखाई करके पढ़ाना शुरू किया पति का इलाज कराया और परिवार का पालन किया। एक के बाद एक करके सभी संतानें उनकी गोद सूनी करके चली गईं। लड़की बची थी सो विवाह के बाद वह भी अपने घर चली गई। ढींगर को देख कर उनका अतीत आँखों के सामने मूर्तिमान हो उठा था। इस अपरिचित अनाथ के लालन-पालन मेंवह वह पुरानी भूल को दोहराना नहीं चाहतीं थीं।

इस घर में आकर ढींगर ने विरासत में जो इतिहास पाया था वह विपदाओं और आघातों से भरा इतिहास था। ढींगर जब अध्यापिका जी की गोद में जा कर बैठा तो वृद्धा की गोद उसे पुआल और पत्ती की तरह सख्त और चुभती हुई मालूम पड़ी। न उस गोद में खुमारी से भरी सुख की नींद थी और न रोम-रोम को पुलका देने वाली स्नेह की ऊष्मा।

अध्यापिका जी ने ढींगर को सामने बैठाकर दिन भर का कार्यक्रम समझाया,"देखो, बहुत सबेरे उठना, शौच वगैरा जाना, मिट्टी और साबुन से हाथ साफ करना। मंजन और स्नान करना। इसके बाद पढ़ने बैठना है...... ऐसा नहीं करोगे तो पिटोगे। खूब पढ़ना, हां...पढ़-लिख कर तुम्हें बड़ा आदमी बनना है। बालचन्द्र। और मां के लिए ढेर से रुपये कमा कर लाना है"...उनकी आखों में पानी झलक आया था।

ढींगर उर्फ बालचन्द्र ने सभी कुछ स्वीकार कर लिया। एक होनहार बच्चे की तरह वह दिन भर का कार्यक्रम पूरा करने लगा। उसका हाथ पकड़ कर वह उसे बाहर ले जाती तो विचित्रता से भरे उस बालक को देखकर दूर गली में जाते हुए लोग भी रुक जाते और अध्यापिका जी से चार बातें करना चाहते।

एक दिन जब अध्यापिका जी बालचन्द्र को लेकर बाहर जा रही थी, एक पड़ौसिन बोली, "अध्यापिका जी, बालक बड़ा रोगी-सा है। देखो तो इसका पेट। गोद भी अपने लिया तो यह ढींगर।"

अध्यापिका जी अपने स्वभाव के विपरीत क्रोध को पीकर आगे तो निकल गई पर उन्होंने हाथ से ढींगर को इस तरह झटका दिया कि जैसे उसका पेट ऊपर से लगा हुआ है और झटका खाकर गिर जाएगा। पर वैसा हुआ नहीं। अध्यापिका जी ने ढींगर के व्यस्त दैनिक कार्यक्रम में कठोर व्यायाम और बढ़ा दिया।

ढींगर अब बहुत थकने लगा। बढ़े हुए पेट के कारण उसे खाने की अपेक्षा उपवास ही अधिक मिलता।

परिणाम यह हुआ कि सड़क पर पड़े जूठे पत्ते, रोटी, दाने,-दुनके सभी उसके पेट में जाने लगे और इस जघन्य अपराध का एक ही इलाज अध्यापिका जी को मालूम था कि उसे कठोर दंड दिया जाए।

दंड और अनुशासन ज्यों-ज्यों सख्त होता गया बालचन्द्र उतना ही ढीठ और अपराधी होता गया। अध्यपिका जी उसके एक के बाद दूसरे कुलक्षण को देख कर कई बार खुद रो उठती। मारते-

मारते तो उसके हाथ दुखने लगे थे। उनकी समझ में आता ही नहीं था कि वह डेढ़ पसली का छोकरा कैसे इतनी मार खाकर भी फिर फिर अपराध करता जाता है।

एक दिन ढींगर ने गजब कर दिया। पूजा का दिन था। अध्यापिका जी ने पकवान बनाया। रसोई का ताला लगाकर बाहर किसी काम से गईं। पर ताली साथ ले जाना भूल गईं। ढींगर उठा उसने ताला खोला और ढेर-से लड्डू कचौड़ी लेकर दुबक कर खाने लगा। घबराहट में किवाड़ खुले रह गये। चौके में रखा हुआ खाना कुत्ते ने खराब कर दिया।

अध्यापिका जी ने लौटकर देखा तो क्रोध से पागल हो गईं। और ढींगर पर इतनी मार पड़ी कि उससे उठा भी नहीं गया। खाट से बंधा हुआ ही छटपटाता रहा और तड़प-तड़प कर खाना मांगता रहा पर अध्यापिका जी का दिल फिर भी न पसीजा। शाम को इतना तेज बुखार ढींगर को चढ़ा कि उसका शरीर तवे की तरह तपने लगा।

अध्यापिका जी ने अपने ही सिर पर दोहत्तड़ मार कर कहा, "लो, मिजाज देखे इसके ! जरा छू दिया कि बस। अरे ऐसी ही किसी पद्मिनी का जाया था तो कम्बख्त मेरे सिर क्यों मरा आकर।" पर अनुशासन का चक्र फिर भी उन्होंने ढीला नहीं किया। गोपाल पर उन का बस न चला, पर इस ढींगर पर वह अपने पूरे व्यक्तित्व को बिना परखे नहीं छोड़ेगी।

खैर किसी तरह हल्की-मोटी दवा-दारू खाकर ढींगर उठ बैठा। अध्यापका जी ने मारा तो नहीं पर पढ़ाई-लिखाई में जब उन्होंने ढींगर को कोरा का कोरा पाया तो अपने भग्य को धिक्कारती हुई बोली, "मैंने देख लिये तेरे लच्छन। अरे अगर पढ़ेगा-लिखेगा नहीं तो क्या नुमायश में रखूंगी तुझे ढींगरे ?

अध्यापिका जी का अनुशासन चक्र और दंड विधान इतनी तेजी से चलने लगा कि पड़ौसी तक त्राहिमान कर उठे। एक दिन जब अध्या-

पिका जी. उस पर चटाचट चपत बरसा रही थीं तो एक पड़ौसी उनके घर में आया और कहने लगा, "अध्यापक जी इस अनाथ बच्चे को आप इतना सताती है कि देखा नहीं जाता। उसकी बिसात देखकर ही तो दंड देना चाहिए।

अध्यापिका जी फुँकार कर बोली, "तो इसे चोर-उचक्का बना दूं? आपको तरस आता है तो ले जाइए न। ले जाकर गद्दी पर बिठाइए।"

"हम क्यों ले जांए? उत्तराधिकारी की तलाश तो आप बरसों से कर रही थी। आपसे यह नहीं हुआ कि अपनी लड़की के किसी बच्चे को बुला लेती। हम सच कहते हैं आपके घर से अच्छा तो ये किसी अनाथाश्रम में ही रहता।"

'मुझे तो सारे घर अनाथाश्रम ही दिखाई देते हैं। जैसे चोर-उचक्के और धोखेबाज आज की लड़कियाँ-लड़के हो गये हैं वैसे तो त्रिकाल में भी देखे सुने नहीं गये और सुनिए छगनलाल जी, आप जाकर पुलिस में रिपोर्ट कर आईए कि मैं इस ढींगर की हत्या कर रही हूं और आप में अगर हौसला हो तो यहीं से ले जाकर अपने रहीसजादों में इसे मिला लीजिए।"

पड़ौसी महाशय अपना-सा मुँह लेकर चले गये। पड़ौसी लोग इतने ही दयावान होते तो बाजार में अनाथों की इतनी बड़ी तादाद होती ही क्यों। बात साफ थी।

और अगर ढींगर को मालूम होता कि उस घर से निकल कर उसकी हालत कैसी हो सकती है, उसे कूड़े-कचरे से भी अन्न के दाने बीन बीन कर पेट की भूख मिटाने पर मजबूर होना पड़ सकता है, वर्षा शीत अंधड़ और तूफान सभी स्थितियों में उसे कहीं पनाह नहीं मिलेगी चाहे वह रोता-रोता पागल हो जाए, उसे सीने से लगा कर कोई भी प्यार नहीं करेगा, तो वह बूढ़ी मां को खुश करने की कोशिश करता। मार खाकर भी प्यार करता। पर वह तो और भी बिगड़ता जाता था। अबोध, बदनसीब ढींगर।

अध्यापिका जी को विश्वास हो गया था कि वह अनाथ ढींगर सुधरेगा नहीं। वह इतना विद्रूप और भयानक हो गया था कि एक दिन खुद अध्यापिका जी उसे अंधेरे में ऊदबिलाव समझ कर चीख उठीं।

ढींगर जैसे समाज और मनुष्यता के नाम पर एक फोड़ा था जो तिल-तिल करके रिस रहा था। अध्यापिका जी ने एक दिन भी यह नहीं सोचा कि उस कंकाल में भी कहीं जीवन की लालसा है उसमें भी कहीं मानवता स्पंदित होती है। वे उसे मारती, भूखा रखतीं, खुद कलपतीं और उसे भी कलपातीं। पर ढींगर कभी सुधरने का नाम न लेता।

एक बार अध्यापिका जी बीमार पड़ीं। ढींगर को थोड़ी आजादी मिली। जीवन और प्रकाश स्वधीनता के उल्लास ने उसके अंग-अंग में स्फुर्ति भर दी। वह खटिया से उठता,पड़ोस में जाता,पानी गर्म कराकर लाता,पुस्तक उठाकर अपना सबक याद करता,आंगन में फुदक-फुदक कर अनेक बाल लीलाएं करता। कराहती हुई माँ का सिर दबाता और जहां से आया था वहाँ के बाग बागीचों गायों और गोहरी की बातें करता। कुछ झूटी और कुछ सच्ची सभी तरह की बातें करके मां को खुश करने की कोशिश करता। एक दिन अध्यापिका जी हुलस कर बोलीं' अरे बद-नसीब बालचन्द्र जो तू हमेशा ऐंसा रहे तो तेरा नसीब न खुल जाय।" ''ढींगर की परिचर्या का प्रभाव था या उसके दुर्भाग्य का कि अध्यापिका जी जल्दी ही बीमारी से उठ बैठीं। हुआ यह की बीमारी की खबर पाकर उनकी लड़की सुषमा कुशल-क्षेम पाने के लिए मां के घर चली आई। साथ ही आए उसके चार बच्चे। लड़के लड़की सभी सुन्दर,गोरे,गदरारे इशारे पर काम करने वाले। पर ढींगर की छाया ऐसी पड़ी कि वे तेजी से बिगड़नें लगे। मां की देखा देखी बेटी भी बच्चों पर चटाचट चपत जड़ने लगी।

एक दिन किसी कसूर पर ढींगर मार खा रहा था। तो बेटी बोली "इतनी बेदर्दी से मारोगी तो एक दिन खून लगेगा तुम्हारे सिर। आखीर इसके जी में जी नहीं है ?"

तो अध्यापिका जी बोलीं,"इसके लच्छन देख रही है ? ऐब करेगा तो क्रोध किसे नहीं आएगा । तू ही अपनी बात नहीं देखती इतने अच्छे बच्चों को भी मार बैठती है ।"यह देख कर सुषमा, जो महीना भर रहने आई थी, १५ दिन ही में भाग खड़ी हुई।

पर न ढींगर बदला न अध्यापिका जी बदलीं। अब ढींगर को डाक्टर ने आंतों की यक्ष्मा भी बतला दी है । अध्यापिका जी अब हर समय अपना भाग्य कोसती रहतीं हैं । ढींगर की हालत अजीब है ।वह न अच्छी तरह उठ सकता है न चल फिर सकता है । दिन भर सीलन और बदबू से भरे बन्द मकान में कैद रहता हैं बाहर गली में बाजे बजते हैं, शहनाइयां बजती हैं, उत्सव होते हैं, रंग-रलियां होती हैं लेकिन ढींगर के जीवन में एक ही रस ह । मार खाना और अपराध करना । अपराध करना और मार खाना ।

कभी कभी वह पड़ोस के रेडियो पर गाये जाने वाले गीतों को दुहराता है तो बड़ा बिचित्र लगता है । बड़े फख्र से वह कहता है,"झंडा ऊंचा रहे हमारा,हम स्वतंत्र देश के स्वतंत्र बाल है।"पर असल में उसके मां-बाप नहीं हैं, इसलिए उसका कोइ देश भी नहीं हैं और न उसका कोई राष्ट्र है । जो गर्व भरे गीत को सुनकर अपने वक्ष पर उसे धारण करे ।

प्यार और मनुहार की सभी बातें वह भूलता जा रहा है । वह सब कुछ भूल गया है । अपनी मां को अपने बापू को और अपनी धौली गाय को भी। उसी सीमित चारदिवारी में उसके सूरज और चांद निकलते हैं । उसे चिढ़ाने के लिए गली के बच्चे तरह तरह के बाजे बजाते हुए अपने रंग-बिरंगे गुब्बारे उसके फाटकों से लगा देते हैं उन्हें छू भर लेने के लिए ढींगर फाटकों से चिपट जाता और वहीं ढेर हो जाता है । पड़ौसी लाला जी की छोटी मुन्नी रागिनी रंग-बिरंगे फ्राक पहने फाटक पर आकर जब पूछती है,"ओ बालें तू कब अच्छा होगा ?" तो बाले यनी बालचन्द्र उर्फ ढींगर हमेशा ही कहता है,"मैं तो अच्छा हूं रागिनी । अम्मा मुझे बाहल जाने नहीं देती ,मारती है, खाना नहीं देती ।"

ऐसी ही शिकायतें ढींगर मौका मिलने पर दूसरे लोगों से भी करता है। अध्यापिका जी ने अब यह निश्चय कर लिया है कि औलाद का सुख उनके भाग्य में बदा ही नहीं है। जब उनकी अपनी औलाद उन्हें दगा दे तो यह दूसरे का खून उनका कैसे साथ देगा। बस अध्यापक जी लौट कर आ जायें तो वह उसे एक क्षण भी घर में न रहने देगी। जाय जहाँ उसे जाना हो और जहां उसके लिए अन्न,भोजन का भण्डार खुला हो।

श्रीमती रजनी पनिकर

एक पत्र

तुम्हारा पत्र आज तीन दिन बाद मिला। तुमने लिखा है कि मैं तुम्हारे लिये पत्र के ऊपर सम्बोधन नहीं लिखती। पर उससे क्या? पत्र तो लिखती हूँ। रोज शाम को घर आकर मेरा यही काम है कि तुम्हें पत्र लिखूँ। वह पत्र तुम्हें दूसरे दिन मिल जाता है। मेरी हर सांस डाक के इस सुप्रबन्ध के लिए लाख-लाख धन्यवाद देती है।

हाँ, तो तुम्हारा पत्र इस बार भी नीरस है, न जाने क्यों तुम ऐसे रूखे-सूखे पत्र लिखते हो! तुम्हारे पत्र मुझे उन बेजान रूखे नीम के पत्तों की याद दिला देते हैं, जो हम गरम कपड़ों की तह में से सर्दियां आने पर निकालते हैं। तुम्हारे पत्र से ऐसा लगता है जैसे मैं तुम्हारी पत्नी नहीं केवल सहचारिणी मात्र हूँ।

आज बरसात है, वर्षों पुराने ठूंठ में नए कोंपल फूटे हैं। मेघ-मालाओं का गर्जन सुन यदि मेरे हृदय की धड़कनें बढ़ जाएँ तो उन्हें मैं कैसे दोष दूँ। प्रकृति का हरा श्रृंगार यदि मेरे अन्तर में टीस भर दे और आँखों के आंसू आँखों में ही तुम्हारी आकृति को धो डालें तो मै क्या करूँ? मेरे पास केवल एक ही साधन रह जाता है कि मैं तुम्हारे पत्र पढ़ने लगूं। मुझे सिगरेट पीने की आदत नहीं है कि उसी के धुंए में अपने हृदय के हाहाकार को छिपा लूं। और शायद तुम सहन भी न कर सको कि तुम्हारी पत्नी सिगरेट पीए।

तुम कम-से-कम ढंग के पत्र तो लिख ही सकते हो। मैं तुम्हें कवि कालीदास का चारण तो नहीं बनाना चाहती, जो अपनी प्रिया का बादल के हाथ संदेश भेजता है, लेकिन फिर भी इतना जरूर चाहती हूं कि तुम कुछ ऐसा लिखो जिस से जमा हुआ खून बहने लगे। जानते हो अनुभूति जब सजग होती है तो उसके साथ पीड़ा और कसक होतीं है और कराह अपने आप निकल जाती है। शायद तुम इस कराह से परिचित नहीं, तभी तो उसे व्यक्त नहीं कर पाते।

नारी भी क्या है, कृष्ण ? मैं सोचती हूँ नारी की आस्था ने ही पुरुष को मनुष्य रूप में भी भगवान का सम्बोधन दिया है। पुरुष को और कोई देवता कह कर पुकारता है ? मानते हो नहीं। केवल नारी। मैं भी नारी हूँ कृष्ण, और साथ में तुम्हारी पत्नी, मैं तुम्हें नित्य नये सम्बोधन देती हूँ, तुम्हारी तरह रोज-रोज वही घिसा-पिटा 'प्रिय विमला' ही नहीं।

तुम्हें याद होगा आज से तीन बरसाते पहले हमारा विवाह हुआ था। विवाह से पहले केवल एक वाक्य तुमने ऐसा कहा था जो मुझे भुलाये नहीं भूलता, आज भी याद है। तुमने कहा था 'विमला तुम्हारी इन सुकुमार सुरमई आंखों में स्वयं को बसा देखता हूँ तो लगता है कि मरणासन्न रोगी को समय पर पथ्य और दवा मिल रही है। आशा होती है जी जायगा।" तुम्हारे इसी एक वाक्य ने मेरा भविष्य निश्चित कर दिया था। तुम्हारी माता जी के विरोध करने पर भी हम एक सूत्र में बंध गये थे। अभी केवल तीन ही बर्ष तो हुए हैं।

पहले दो बर्ष तो बहुत अच्छी तरह कटे थे। हंसी-खुशी की लहर, मुस्कराहटों का मेला ! लगता था, जैसे स्वर्ग के सारे सुख सिमट कर हमारी सांसों में आगये थे। उतनी खुशी में भी तुम्हारे ओंठ सटे रहते ,तुम खामोश मेरी ओर देखते रहते। तुम्हारी वह खामोशी मुझसे सब कुछ कह देती। सम्पृक्त क्षणों की उस मधुर स्मृति को स्मरण कर अब भी मैं अपने को फुठला लेती हूँ।

तुम लिखते हो तुम्हारे अफसर तुम से बड़े प्रसन्न रहते हैं, तुम काम बहुत अच्छा करते हो । यह पढ़ कर मुझे प्रसन्नता हुई, इसमें संदेह नहीं । अब तुम्हारे पत्र के चार पृष्ट केवल इन्हीं बातों से भरे रहते हैं कि तुम क्लब में गए तो कौन मिला, दफ्तर में क्या-क्या बात हुई, दोस्तों के साथ तुम पिकनिक पर चले गए, अमुक जगह तुम पार्टी में सम्मिलित होने गए, तो जानते हो मुझे क्या लगता है ? मैं अभाव से भर उठती हूँ । मेरा अभाव एक बहुत बड़ा रूप लेकर मुझ पर वैसे ही छा जाता है जैसे एक दिन पुरानी दुल्हिन पर लज्जा का आवरण । वह लज्जा उसके लिए मीठी होती है, पुलक भरी होती है; परन्तु यह अभाव मेरे लिए घनीभूत अतृप्ति छोड़ जाता है। उसका अभास भी तुम्हें हो पाए तो मैं अपने को सौभाग्यशाली मानूँगी । तुम कहोगे यह मैं क्या बे-सिर पैर की बातें कर रही हूँ, पर यह सच है कृष्ण, तुम अपने ही में इतने पूर्ण हो, तुम नहीं समझ सकोगे । यह उलहना नहीं है, यह मेरे हृदय की सच्ची वेदना है।

तुमने पढ़ाई के लिए कर्ज लिया ठीक है, तुम शिक्षित न होते तो इतने बड़े अफसर कैसे बनते और फिर मुलाकात कैसे होती ! यह शिक्षा तुम्हें तो मंहगी पड़ी ही, परन्तु उसका जो मूल्य मुझे चुकाना पड़ रहा है, वह बहुत अधिक है । मैंने कभी यह नहीं सोचा था कि तुम से दूर रह कर मेरी हालत ऐसी होगी । अब तो एक वर्ष होने को आया, तुम छुट्टी लेकर यहाँ आए थे, वह केवल एक सप्ताह ही तो था । तुम्हें अपने दोस्तों से मिलने-मिलाने से ही फुर्सत नहीं मिली । साल भर में एक सप्ताह क्या होता है ? सच तुम...तुम जब मिलते हो,तब भी तुम्हें कुछ नहीं कहना होता । तुम बहुत होगा तो यही लिखोगे कि मैं छुट्टी ले कर तुम्हारे पास चली आऊँ, परन्तु उस में भी रुपया खर्च होता है और मैं किसी भी प्रकार की फिजूलखर्ची नहीं करना चाहती, जल्द-से-जल्द तुम्हारा क़र्जा निपटा देना चाहती हूँ । तुम अपने पत्रों को इतना रूखा न लिख कर जरा कोमल बना सकते हो । मैं यहाँ अकेली हूँ । सखियाँ भी हैं

एक-दो । उन्हें देखती हूँ तो तुम्हारी याद और भी खलने लगती है। प्रेमा दिन भर काम करते-करते बीच-बीच में अपने बच्चे की बात सुनाती रहती है । शाम को घड़ी की सुई अभी पाँच पर नहीं पहुँचती कि उसके पति उसे घर ले जाने के लिए आ जाते हैं। है तो बुरी बात, परन्तु उन दोनों को इस तरह इकट्ठा जाते देख मैं ईर्ष्या से भर उठती हूं। काश ! हम भी इस तरह इकट्ठे होते । पर ऐसा भाग्य लेकर मैं पैदा नहीं हुई हूँ। जितना समय मैं दफ्तर में काम करती रहती हूं, वह तो ठीक व्यतीत होता है परन्तु जब काम नहीं रहता...जब मैं घर आ जाती हूँ तो चार दीवारी के सिवाय और कुछ नहीं रह जाता। उस समय अपने को स्मृतियों में भुलाए रखना भी कठिन हो जाता है, तो मैं तुम्हारे पत्र खोल कर पढ़ती हूँ। रात को नींद नहीं आती, तो भी तुम्हारे पत्र मेरा सहारा होते हैं। तुम इन पत्रों को इतने निर्मोही ढंग से लिखते हो जैसे तुम्हें मुझसे कोई मतलब नहीं, कोई लगाव नहीं, कृष्ण, ऐसा मत समझना कि मैं तुम्हारे हृदय के भावों से परिचित नहीं, परन्तु मैं नारी हूँ और नारी कुछ बातों में अभिव्यक्ति चाहती है।

मौन स्नेह वहीं तक अच्छा होता है जब देनेवाला और लेनेवाला पात्र एक-दूसरे के पास हो। एक स्नेह-सिक्त पत्र जिस से मुझे यह आभास मिले कि तुम भी मुझे याद करते हो, मुझे कितनी सान्त्वना दे सकता है। जाने इतना पढ़ लिख जाने के बाद भी तुम्हें पत्नी को प्रेम पत्र लिखना क्यों नहीं आया ? मेरा हृदय तुम्हारे प्रेमपत्र के लिए तड़प उठता है। सुनो, एक बात सूझी, बुरा न मानो तो मैं तुम्हें उदाहरण के लिए एक पत्र लिख कर भेजती हूं, उसी तरह का स्नेह-भरा पत्र तुम मुझे लिखना । तुम ऐसा ही पत्र लिखने में अपने को असमर्थ पाओ, तो यही पत्र तुम अपने हाथ से कागज पर उतार कर मुझे पोस्ट कर दो, तुम नहीं समझ सकते यह पत्र मुझे कितना सुख, कितनी शाँन्ति देगा !

विमला,

तुम्हारे दो पत्र आज मिले परन्तु उनसे मेरी तसल्ली नहीं हुई विमला ! इसमें सन्देह नहीं कि तुम स्नेह-पूर्ण पत्र लिखती हो, फिर भी मुझे यह जीवन अधूरा लगता है। सबेरे सो कर उठता हूँ तो तुम दिखाई देती हो, चाय पीता हूं, तो कड़वी लगती है क्योंकि तुम्हारे हाथ की बनी चाय में और ही स्वाद है।

विमला, सच मानो तुम्हारे बिना यह जीवन बिल्कुल सूना है। मैं दफ्तर जाता हूँ, मन लगा कर काम करता हूँ, परन्तु काम करते में कभी-कभी तुम्हारी याद जैसे लेखनी की नोक पर आकर बैठ जाती है। वह याद के भार में एक अक्षर भी और नहीं लिखती, तो मैं तुम्हारे पास पहुंच जाता हूं। तुम्हें अपने स्वागत में मुस्कराते हुए पाता हूं तो मन ही मन प्रसन्न हो उठता हूं कि हमारा जीवन सुखी है, उन दम्पतियों की तरह नहीं है जो प्रेम के नाम पर विवाह कर लेते हैं, परन्तु पीछे हर दम उनके घर में कलह मची रहती है।

विमला, तुम मुझे इतना मान देती हो कि मैं कभी-कभी सोचता हूं कि मैं इस मान के योग्य हूं भी ? विमला, जब मैं कभी पड़ौसी की पत्नी के खिलखिलाने का स्वर सुनता हूं तो मुझे उसी क्षण तुम्हारा विचार आ जाता है।

विमला, आज यह कर्ज न होता तो हमारी एक ऐसी दुनिया होती, जिसमें कृत्रिम वर्षा नहीं सुख की वर्षा होती, मुस्कराट के बादल आते। लखनऊ और दिल्ली ˜ गाड़ी से एक रात का फासला है,मैं एक विश्वास से उसे पार कर जाता हूं।

विमला, तुम्हारा बनाया नींबू का अचार मिल गया था, इस बार तो सचमुच बहुत चटपटा बना है। आम का अचार कब भेज रही हो, यही तो मोसम है न ?

तुम इस वर्ष की छुट्टी कब ले रही हो ? तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा में रहूंगा।

मधूर याद के साथ
कृष्णा

अब तुम्हारे अच्छे-से पत्र का प्रतीक्षा कर रही हूं।

तुम्हारी
विमला

बलराज साहनी

दिल मतलब कलेजा

आज स्टोडियो में पैक-अप वक्त से पहले हो गया। मैंने जल्दी-जल्दी मेक-अप उतारा और कपड़े तबदील किए। यह सोच कर खुशी हुई कि साढ़े पांच बजे तक घर पहुंच जाऊंगा। कमला तब तक वहीं होगी। दोनो सिनेमा देखने के लिए इकट्ठे जा सकेंगे।

कम्पनी के एक मुलाजिम को टैक्सी लाने के लिए रखा था। लेकिन उनके आने तक मूसलाधार बारिश शुरू हो गई। दो अपरिचित व्यक्तियों ने अन्धेरी स्टेशन तक लिफ्ट की दरख्वास्त की। ड्राइवर की तरफ मुतालबा हुआ कि मीटर के भाड़े के अलावा १॥ रुपया उसे ऊपर से दिया जाय। इस मौसम में दोनों मुतालबे मुनासिब मालूम पड़े।

फाटक पर दरबान ने गाड़ी का मुआयना किया, कहीं बिना परवानगी कोई फिल्म आदि बाहर न चली जाय। ड्राइवर को शायद यह दस्तूर पसन्द न था। व्यंग-भरे लहजे में बोला, "दो डिब्बे फिल्म के पीछे कैरीयर में पड़े हैं। वे भी दिखा दूं?"

उस की आवाज से पता चला कि उसने शराब पी रखी है।

मेरे साथी उस पर खफा हुए। वह गालिबन स्टूडियो ही के कर्मचारी थे। कहने लगे—"गोरखा अपनी ड्यूटी कर रहा है। तुम्हें उस के काम में दखल देने का क्या हक है?" शह पा कर गोरखा भी गरम

हुआ। लेकिन मैंने बीच में पड़ कर सुना कर कह दिया कि नशे की हालत में आदमी बच्चे की तरह हो जाता है। कुछ हमदर्दी उसके साथ इस लिए भी हो जाती है कि उस की मौजूदगी में लोग अपने इखलाकी ऊंचेपन की खाहमखाह नुमाइश करनें लगते हैं—खासतौर से यदि वह निचले वर्ग का आदमी हो।

"सुनाओ दोस्त, खूब ठाठ से पी है न ?" मैंने ड्राइवर को आश्वस्त करते हुए कहा।

'थोड़ी पी है साहब, जास्ती नहीं। तुम फिकर नहीं करना साहेब," उस के अन्दाज में वही अक्खड़पन था।

मगर तुम दारू पी कर गाड़ी चलाते हो, यह कैसी हरकत है ?" एक साथी ने उसे फिर डाँटा "अगर ऐक्सी डेंट हो गया तो ?"

"देखो साहेब" ड्राइवर ने दोनों हाथ स्टीरिंग से उठा लिए। देखो *कैसा चलता है हमारा गाड़ी ? अपना रास्ता खुद देख कर चलनेवाला* गाड़ी है, देखो।"

अब तो हम तीनों का दम खुश्क हुआ। इस सड़क पर अजीबो-गरीब ढंग का ट्रैफिक होता है। शहर से बाहर का इलाका होनें की वजह से मोटर लारी के अलावा गायें—भैंसे तरकारी-सब्जी से लदे ठेले, दूध के बहँगे, और भी अनेक प्रकार के यातायात होते हैं। बरसात के कारण कीचड़ की भी कमी नहीं।

"देखो भैया ! मैंने ड्राइवर से प्रार्थना की, अन्धेरी स्टेशन तक तुम खुद ही ड्राइव कर लो।' वहां हम उतर जायेंगे। उस के बाद गाड़ी अपने आप चलती फिरे, हमें कोई एतराज नहीं।"

"अरे, तुम मरने से इतना डरता है साहेब। एक दिन तो मरना ही है सब कूं।"

समझ में न आया क्या जवाब दूँ ! इस आदमी का अक्खड़पन जितना मेरे साथियों को बुरा लग रहा था उतना मुझे नहीं और खतरे की कोई खास बात भी न थी। यह लोग अपने काम में बड़े होशियार

होते हैं। मैंने उससे कहा—

'मास्टर तुम्हें मौत से डर नहीं लगता ?"

"बिल्कुल नहीं। हम कूं बस एक चीज का डर लगता है साहेब।"

"किससे ?"

"इससे, इस काले कौवे से।" उसने खिड़की से हाथ बाहर निकाल कर एक राह चलते पुलिस-मैन की तरफ इशारा किया। फिर ऊंचे स्वर में पुकारने लगा—

"सलाम संतरी साहेब, कुठें जणार ?"

सन्तरी ने एक क्षण रुक कर उसकी तरफ देखा, फिर चल दिया।

"साला" ड्राइवर ने कहा "हम उससे डरता है, वह हमसे घबराता है।" यह कह कर जोर से हंसा।

अन्धेरी स्टेशन के करीब वह दोनों व्यक्ति उतर गये। मुझसे भी ताकीद की गयी कि इस टैक्सी को छोड़ देना ही बेहतर होगा। लेकिन मैंने उनकी बात न मानी। एक तो वक्त जाया होता, दूसरा इस बेचारे की दिलशिकनी करना भी अच्छा नहीं लगा। मैंने सोचा—नशा उतरते ही बेचारा जाने किस हालत में हो जायगा। उसके यह खुशी के थोड़े से क्षण में क्यों खराब करूं ? इन्हें हासिल करने के लिए न सिर्फ उसने पैसा ही खर्च किया है बल्कि दिनदहाड़े कानून तोड़कर अपने आपको भारी खतरे में भी डाला है।

लेकिन जब मोटर फिर चल पड़ी और ट्रैफिक में दो एक बार उस ने ऊटपटांग की तो मुझे अपने फैसलें पर अफसोस होने लगा। मैंने सोचा,मध्यम वर्ग का आदमी भी बड़ा अजीब होता है। एक तरफ तो जिंदगी के हर मोड़ पर यूं फूंक-फूंक कर कदम रखता है जैसे उसकी जान और पोजीशन अत्यन्त नाजुक और अनमोल वस्तुएं हों। लेकिन दूसरी तरफ किसी समायिक रिंदपने के आवेश में आकर वह दोनों से लापरवाह हो जाता है और इसी में उसको मजा भी आता है।

ड्राइवर निचले वर्ग का आदमी है। उसे इस बात की रत्ती भर

परवाह नहीं। यदि इसी समय पुलिस उसे बीस आदमियों के सामने अपमानित करे, उसे गिरफ्तार करके थाने में डाल दे, तो भी क्या? उसे आगा-पीछा सोचने की कभी गुँजाइश नहीं होती। वक्ती तौर पर जो मन में आए कर लेना यह उसके लिए कोई विलक्षण बात नहीं, बल्कि उसके जीवन का दस्तूर ही है। ऐसा करने में उसे किसी रोमांस या रिंदपने का एहसास भी नहीं होता। कारण यह कि न दुनिया की और न उसकी अपनी नजर मे उसके जीवन की कोई कीमत है। उसकी तौफीक भी छोटी और इसके साथ-साथ उसके ज्ञान का दायरा भी बहुत छोटा है।

अब वह चुप था। मुझे ठीक न लगा। मैंने सोचा, कहीं सुस्त पड़ कर ऊंघ न जाय। उसे बातों में लगाए रहना चाहिए।

"चुप क्यों हो गए भाई?" मैंने कहा।

पहले तो वह कुछ न बोला। फिर आजुर्दा सी आवाज में कहने लगा—"देखो साहेब, हम पिया है। बहुत कसूर किया है। पर तुम हम कूं काहे को हैरान करता है?"

"अरे भाई, तुम्हें हैरान करने की मुझे क्या जरूरत पड़ी है? मैंने तो यूं ही कहा। अगर तुम्हें बुरा महसूस हुआ तो मुझे माफ कर दो!"

थोड़ी देर चुप रह कर वह फिर बोला—

"तुम फिल्म में काम करता है न साहेब।"

"हां"

"हम देखा है तुम कूं। गरीब के दिल को पहचानता है तुम?"

"अरे नहीं भाई, गरीब के दिल को गरीब ही पहचान सकता है।"

"वह तो ठीक है।"

और फिर कुछ क्षण बाद उसने गाना शुरु किया—

अचानक गाते गाते वह रुक गया और बोला—

"साहेब, तुम पूछा था हम कूं मौत से डर लगता है कि नहीं सुनो—उसका जवाब—" वह फिर गाने लगा—

"जब दिल ही टूट गया
हम जी के क्या करेंगे......जब दिल ही......
समझ गया न साहेब, दिल...दिल का मतलब कलेजा, समझा ?"

इसके बाद वह लगभग आधी दरजन फिल्मी गीत सुना गया। पूरा गाना उसे एक भी याद न था। गाते समय वह दाहिना हाथ खिड़की से बाहर निकाल कर खूब झुलाता। अंतरा निभाने की मुश्किल को आसान करने के लिए वह कभी ब्रेक को और कभी क्लच को जोर से दबा देता। पीछें आने वाली मोटरें उसकी हरकतों से काफी बेजार थीं।

"अच्छा गाते हो तुम" मैंने जी कड़ा कर के कहा।

हम नहीं गाता है साहेब, हमारा गाड़ी गाता है। देखो इसका कितना अच्छा आवाज है।"

मोटर नई मालूम होती थी। इंजन की आवाज वाकई उसकी अपनी आवाज के मुकाबले में अच्छी थी।

"तुम्हारी अपनी गाड़ी है ?" मैंने कुछ हैरान होकर पूछा।

"नहीं साहब, अपनी तो नहीं है..." कुछ और कहते कहते वह रुक गया। इस बार उसकी खामोशी ने हवा में कुछ दर्द सा पैदा कर दिया।

लेकिन अपनी तबियत को बहाल करने में उसे अधिक देर नहीं लगी। वह फिर सुर अलापने लगा। साथ ही बारिश भी फिर जोर पकड़ गई, गाड़ी के सारे शीशे उठाने पड़े। अब उसका गाना और उसके मुँह से निकलता हुआ सस्ते सिगरेट का धुँआ दोनों असह्य थे। मैं उकता गया जब भी सामने से कोई गाड़ी आ जाती मैं बेसब्र होकर उसे सम्हल भाई, सम्हल के" कहने लगता।

इस बात से वह चिढ़ गया शायद। एकदम ही मेरी तरफ मुंह मोड़कर बोला—

"साहेब, तुम को बताऊँ कैसे होता है एक्सीडेंट ? देखो, तुमको एक्सीडेंट करके बताता हूँ।"

पेश्तर इसके कि मैं कुछ कह सकता, उसने एक भारी मूर्खता कर डाली।

बारिश बम्बई में आती भी बड़ी तेजी से है और रुक भी एकदम जाती है। पहली बूंद पड़ते ही लोग भाग कर कहीं आश्रय लेते हैं, और जहाँ रुकने के आसार दिखाई दिए फौरन फिर सड़कों पर निकल पड़ते हैं, जैसे कुछ हुआ ही न था। हम अब सांताक्रुज के करीब पहुँच चुके थे। सड़क पर लोगों की चहल-पहल फिर शुरू हो गई थी। तीन नौजवान, जिन्होंने खाकी वर्दियाँ पहन रखी थीं और जिनके कंधो पर पर लटकती हुई पेटियों से ज्ञात होता था कि बस-कंडक्टर हैं, आसपास के कीचड़ को लांघते हुए सड़क पर आ रहे थे। ड्राइवर ने आव देखा न ताव, मोटर उन पर चढ़ा दी।

'अरे यह क्या कर रहे हो ?" मैंने हड़बड़ा कर कहा। मेरे मन में उस क्षण उसके लिए सख्त घृणा पैदा हो गई। लेकिन कम्बख्त ने जो भी किया ऐसी सफाई से कि मैं दंग रह गया। इधर एक कंडक्टर को ठोकर लगी और उधर गाड़ी के चारों पहिये जाम हो गए। कंडक्टर को भी बस मामूली सा ही धक्का लगा, जैसे मोटर से नहीं, किसी आदमी ने पीछे से आकर दिया हो। फिर भी तीनों कँडक्टर सख्त घबरा गए, और मुड़ कर हमारी तरफ हैरत भरी नजरों से देखने लगे। ड्राइवर बड़ी ढिठाई के साथ उनकी निगाहों के साथ उनकी निगाहों का मुकाबला करता रहा, जैसे कह रहा हो "हाँ, मैंने जान-बूझकर तुम्हें टक्कर मारी है। अब देखता हूँ तुम मेरा क्या बिगाड़ लोगे ?" यह भी एक विचित्र परिस्थिति थी। टैक्सी के तमाम शीशे चढ़े हुए थे, इसलिए कंडक्टरों की समझ में नहीं आ रहा था कि ड्राइवर से कुछ कहें तो किस प्रकार कहें ? और खामोश रहना भी वह न चाहते थे। धक्का कोई ऐसा जोर का न लगा था। साथ ही कुदरत का एक करिश्मा यह भी हुआ कि जिस वक्त यह टक्कर लगी ऐन उसी वक्त दाएं हाथ से एक डबल-डेकर बस डिपों में से निकली और

बिल्कुल करीब से क्रास कर गई। इस कारण बेचारे कंडक्टर और भी नरम पड़ गए थे कि शायद ड्राइवर से बचाव करते-करते धक्का लग गया हो। लेकिन इसके विपरीत ड्राइवर जिस उद्दण्डता से उनकी तरफ देख रहा था, उससे जाहिर था कि जानबूझ कर उनका अपमान किया गया है। उनकी इस शशोपंज का शराबी खूब मजा ले रहा था। यकीनन ऐसी धूर्तता उसने पहली बार नहीं की।

काफी देर रुक कर और अन्त में सिर को यूं हिलाकर जैसे कह रहा हो, "अच्छा मेरे खिलाफ कार्रवाई करने की तुम्हारे अन्दर बिल्कुल हिम्मत नहीं है, तो मैं चलता हूँ" ड्राइवर ने गाड़ी आगे बढ़ाई। शीशे को नीचे करता हुआ वह मुझ से कहने लगा—

"इसकू बोलते हैं साहेब एक्सीडेंट। अभी तुम हमकू "संभल के" "संभल के" मत बोलना, हाँ ?"

मेरी हालत भी उन कंडक्टरों जैसी ही हो गई थी। एक तरफ इस मूजी पर गुस्सा आता और दूसरी तरफ उसकी जिन्दादिली और उसके आत्मविश्वास को देखकर तबीयत खुश होती।

इतना मैंने जरूर कहा—

"ऐसा कभी न करना चाहिए भाई।"

"काहे को ?"

"मोटर वाले को हमेशा पैदल चलने वालों की इज्जत करनी चाहिए।"

"काहे को ?"

"क्योंकि वह गरीब होते हैं।"

एक एक्टर से उसे ऐसे मन्तक की उम्मीद न थी। बड़े नम्र भाव से बोला—

"यह बात तुम ठीक बोला साहेब। हमसे बहुत गल्ती हुआ। आज हमारा माथा फिरेला है। तुम हमकू माफ करना। हम से बहुत कसूर हुआ साहेब !" उसने फिर स्टीयरिंग छोड़ दिया और दोनों हाथ

जोड़ दिये ।

मैंने कुछ जवाब न दिया। कुछ देर चुप रहने के बाद वह अपने आप ही बड़बड़ाने लगा—

"पर यह कंडक्टर लोग किधर अपने आप को गरीब समझता है। यह तो अपने कूं लाट-साहब का नाती समझता है। पेसैंजर लोग को बहुत हैरान करता है यह।"

इस सादगी पर मुझे भी हंसी आई। शराब का नशा इन्सान को कैसे अन्दर बाहर से यक-सां कर देता है। इस हालत में इन्सान जो सोचता है, वही कहता और करता है। [redacted] रोजमर्रा के छल-कपट से तंग आकर ही लोग शराब पीते होंगे, ताकि कुछ देर के लिए इस निरर्थक और अस्वाभाविक बोझ को सिर से उतार फेंकें।

जुहू वाली सड़क पर पहुँच कर मैं कुछ निश्चित हुआ। यहां दिन के वक्त यातायात बहुत कम होता है। सोचा, घर पहुँचते ही चाय की गरम-गरम-प्याली खुद भी पियूँगा और इसे भी पिला ूगा। कमला को तैयार होने में पन्द्रह बीस मिनट लग ही जायेंगे। तब तक इसका नशा उतर जाएगा फिर हमें दादर तक सही-सलामत पहुंचाना इसके लिए कोई मुश्किल नहीं।

जुहू की सड़क पर उस वक्त एक अजीब समां बंध रहा था। सड़क के दोनों तरफ बारिश का और समुद्र से छलक कर आया हुआ पानी मीलों तक फ़ैला हुआ था। नारियल के पेड़ तेज हवा में मस्ती से झूम रहे थे। अब मेरे साथी को एक नया गीत सूझा—"दुनिया रंग रंगीली बाबा!"

इस जौक की दाद दिये बिना मैं कैसे रह सकता? वाकई यह समाँ इस गीत के सर्वथा अनुकूल था—

अनायास ही मैं गुनगुनाने लगा।

मेरी आवाज उससे अच्छी थी। लेकिन उसकी आवाज ज्यादा स्वच्छंद थी, और सुर में रहने का भी इसे खासा अभ्यास था। मिल कर

गाने से हम एक दूसरे की खामियों को पूरा करने लगे और गीत और भी मजेदार हो गया—

"अरे, जरा खुल के गाओ साहेब। शरमाने की क्या बात है। परवाह मत करो किसी साले की......दुनिया की ?..."

'अच्छा भाई यूँ ही सही" मैंने अपने मन में कहा और तदुपरान्त जितने जोर से गा सकता था, गाने लगा। यह गीत ड्राइवर को पूरा याद था, या शायद वज्द में आकर याद निखर आई थी। भरपूर मजा आया।

कभी-कभी बड़ी इमारतों के पीछे छुपे हुए समुद्र की झलक मिल जाती। पवई की पहाड़ी पर बादल यूँ लेटे हुए थे, जैसे उसे बड़े प्यार से उठा कर किसी दूर देश में ले जाना चाहते हों। और हम गा रहे थे—

राह चलते लोग हैरान होकर हमारी तरफ देखते, और हँस भी देते थे। मुझे रह-रह कर झेंप महसूस होती—किसी पहचान वाले ने देख लिया तो ? बार-बार अपना "मूड" बरकरार करना पड़ता, दर्शकों के सामने एक्टर को अपना "मूड" बनाना पड़ता है और सच तो यह कि इस समय मैं कल्पना में वाकई बड़े-बड़े सीन खेल रहा था। मैं वाकई भविष्य में उस "देश सुनहरे" में जा बसा था जहाँ हर मेहनत करके पेट पालने वाले इन्सान की "जीवन नैया" "सुख की नदिया" पर बहेगी, 'आशा के पतवार" नैया को हमेशा पार लगाया करेंगे, ऊंच नीच के खोटे भेद सब मिट जायेंगे। इस तरह मेरा जोश बढ़ जाता था, और एक 'निचले दर्जे" के आदमी के साथ मिल कर गाने की झेंप मिट जाती थी।

अब जुहू की चौपाटी के दर्शन हुए। ज्वार-भाटा जोरों पर था। पानी सड़क तक आया हुआ था। हमारी आवाज लहरों के गर्ज में विलीन हो गई। ड्राइवर बोला—

"साहेब, तुम सच-सच बताओ, तुम कितना पिया है ?"

"क्यों शराब पिये बगैर इन्सान गा नहीं सकता ?"

"मैं कसम खा कर बोलता है, तुम हमसे जास्ती पियेला है।"

"और मैं कसम खाकर कहता हूं कि मैंने एक बूंद भी नहीं पी है"—मैंनें शराबियों जैसी एक्टिंग करते हुए कहा।

हम दोनों हंस पड़े। थोड़ी देर वाद मेरा घर आ गया। उतर कर मैंने उसे गाड़ी मोड़ कर खड़ी करने के लिए कहा। लेकिन अपने साथी को इस तरह छोड़ कर चले जाना मुझे अजीब-सा लग रहा था। मैं उसको अन्दर आने की दावत देने के लिए वापस मुड़ा। लेकिन उसके पास पहुँच कर मेरे मुँह से सिर्फ यही निकला—"चाय...पियोगे न भाई।"

उसने भी आंख चुराते हुए बड़े संकोच से कहा"नहीं साहेब।"

वह तिलिस्म जो एक गीत ने हमारे दरमियान पैदा कर दिया था, अब टूट चला था।

"मैं......अभी आता हूँ" यह कर मैं तेज कदमों फाटक के अन्दर जा घुसा—जैसे हम दोनों ने मिलकर कोई पाप किया हो।

अन्दर आकर मालूम हुआ कमला जा चुकी है। मैंने नोकर को जल्दी चाय बनाने का आदेश किया और स्वयं मुँह हाथ धोने तथा कपड़े बदलने में मसरूफ हो गया।

अभी कुछ मिनट ही गुजरे होंगे कि मोटर के हार्न की लम्बी और कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ी। मुझे महसूस हुआ शायद ड्राइवर को मेरी ईमानदारी पर शक होने लगा है। कहीं मैं किसी दूसरे रास्ते खिसक तो नहीं गया हूं ? मैं कमीज बदलकर उसके पास पहुंचा। मुझे देखते ही वह बोला—

"हमारा धंधा खराब होता है साहेब।" उसकी आवाज से मुरव्वत और नम्रता गायब थी।

"मगर मैंने तो तुम्हें शुरू में ही कह दिया था मुझे जुहू होकर दादर जाना है।"

"कहा होगा साहेब, हमकू याद नहीं। हमारा धंधा खराब होता है।"

धंधा कैसे खराब होता है, मैं न समझ सका। "अच्छी बात है" मैंनें भी रुखाई से जबाब दिया, "तुम्हारी मरजी, मगर मीटर पर जो लिखा है वही दूँगा। उसके अलावा जो डेढ़ रुपया तुमने मांगा था वह नहीं दूंगा।

"अच्छी बात है, मत दो साहेब।"

"बहुत अच्छा" मीटर के हिसाब से मैंनें उसे भाड़ा दे दिया।

पैसे लेते वक्त उसके चेहरे पर खिन्नता के आसार नजर आए, जैसे उसे इस घाटें के सौदे का अभी-अभी आभास हुआ हो! इस अवसर पर यदि मै उससे फिर दो मीठी-मीठी बातें करूं तो मोम हो जाए। लेकिन अब मेरा अहंभाव जाग चुका था। उसने मुझे अकड़ दिखाने की जुर्रत की थी। मैं भी क्यों न अकड़ दिखलाऊं! मैंने उसके साथ सज्जनता का व्यवहार किया। यदि चाहता तो कुछ भी दियें बगैर उसे अंधेरी स्टेशन पर ही छोड़ देता। उसके दिन में ठेस न लगे, इस खातिर मैंने अपनी जान तक को खतरे में डाला है। न केवल यह, बल्कि सारा रास्ता उसके साथ एक मित्र की तरह हंसता बोलता रहा। क्या उसे इसका कुछ भी लिहाज न होना चाहिए।

मैं मुंह फेर कर वापस चला गया। वह भी मोटर स्टार्ट करके चलता बना।

मेरा जी खट्टा हो गया। मैंने चाय पी, शाम का अखबार पढ़ा, कुछ देर सोफे पर लेट गया। फिर भी तबीयत को सहला न पाया। आखिर उस कम्बखत को अचानक यह हुआ क्या? यह सोच कर और भी तकलीफ होती रही कि उसे पूरे-पैसे न दिये! और उसनें भी इसरार क्यों न किया। सारा रास्ता खाली जाएगा। एक तो, अकेला है वह। कहीं फिर कोई मूर्खता न कर बैठे। कहीं मेरे अन्दर आते ही उस ने फिर तो बोतल मुँह को नहीं लगा।

तैंयार होकर मैं घर से निकला। स्टाप पर बस मिलने मे देर नहीं

लगी, मैं सवार हो गया।

लेकिन थोड़ी दूर जाकर बस रुक गयी। मैं दरवाजे के करीब बैठा था। कौतूहलवश झांक कर बाहर देखा। मालूम हुआ कि वही टैक्सी एक कोठी के फाटक से टकराई पड़ी है। सड़क के बीचोबीच दस-बीस आदमी घेरा बांधे खड़े हैं, और इन्हीं के दरमियान मेरा भरे बालोंवाला यार चुंधियाई हुई आंखों से इधर-उधर देख रहा है। मेरा अंदाजा ठीक ही निकला। अब उसके लिए सीधा खड़ा रहना भी मुश्किल हो गया था।

भीष्म साहनी

समाधि भाई रामसिंह

यह घटना मेरे शहर में घटी। यह घटना और कहीं घट भी न सकती थी। शहरों में शहर है तो मेरा शहर, और लोगों में लोग हैं तो मेरे शहर के लोग, जो अपने बराबर किसी को समझते ही नहीं। हमारे शहर के बाहर एक गंदा नाला बहता है, पतला, बूढ़ा, मन्दगति, जिसमें इतना पानी भी नहीं कि उसमें भैंसें बैठकर अपना बदन ठण्डा कर सकें, मगर हम उसे दरिया कहते हैं। एक बाग है, जिसमें शीशम और सफेदे के पेड़ों के अलावा तीसरी तरह का पेड़ नहीं, और कौओं और चीलों के अलावा कोई परिन्दा नजर नहीं आता, नीचे झाड़-झंखाड़ हैं, और हर वक्त वहाँ गर्द उड़ती रहती है, वसंत में भी वहाँ कभी हरियाली देखने को नहीं मिलती; पर शहर वाले उसे चमन कहते हैं, और उसे किसी भी पुष्प-वाटिका से अधिक सुन्दर मानते हैं। लोग खुद न हंसों में न कौओं में, न वह पठान, न पूरे पंजाबी, लेकिन वह अपने-आपको पठानों से भी बड़े पठान और पंजाबियों से बड़े पंजाबी मानते हैं। इस शहर की कोई चीज अपनी नहीं, जो फल आते हैं, तो काबुल से और कपड़ा आता है विलायत से, इसके अपने फल तो खट्टे अलूचे, लसूड़े और गरण्डे होते हैं, जिन्हें अब बकरियों ने भी खाना छोड़ दिया है; मगर शहर वाले इसे फलों का घर और कपड़े की मण्डी मानते हैं। बस, इस शहरवालों की एक ही चीज अपनी है, उनकी मूंछें, जिनके कोने सदा

ऊपर को उठे रहते हैं, उनमें कभी खम नहीं आया !

इसलिए यह घटना इसी शहर में ही घट सकती थी। चूंकि शहर बहुत पुराना नहीं, यहां कोई स्मारक या मन्दिर नहीं, मगर किसी शहर वाले से कहकर तो देखो, वह आपको इस नजर से देखेगा, जैसे वह गुफावासी को देख रहा हो, और फिर पूछेगा—तुमने भाई रामसिंह की समाधि देखी है ?

और इसके बाद समाधि की तारीफ में और भाई रामसिंह की तारीफ में एक कसीदा कह डालेगा। अब भाई रामसिंह कोई गुरु नहीं हुए, उनका इतिहास में कहीं नाम नहीं मिलता, शहर के बाहर इस बेचारे को कोई जानता तक नहीं, मगर यहाँ उसे और उसकी समाधि को शहर का बच्चा-बच्चा जानता है; और यदि देश भर का बच्चा बच्चा नहीं जानता तो इसमें देशवालों का दोष है, शहरवालों का नहीं।

जो घटना मैं आपको बतलाने जा रहा हूँ, यह इसी समाधि से सम्बन्ध रखती है।

यूं हमारा शहर छोटा सा है, जिसमें एक बाजार लम्बा सा कपड़े वालों का, एक नानबाइयों का, एक सब्जी मंडी एक अनाज मण्डी, अनगिनत गलियाँ और दर्जन के लगभग मुहल्ले हैं। शहर के बीच में एक ऊँचा सा टीला है, जिस पर एक मन्दिर है और जिसके चारों तरफ लम्बी-लम्बी सड़कें उतरती हैं, जैसे शिव जी की जटा से एक की बजाय चार नदियाँ बह निकलें। लोग मस्त हैं, जो काम करते हैं वह भी, और जो काम नहीं करते वह भी, चौबीस घन्टों में एक चक्कर शहर का जरूर काटते हैं, इसलिए गलियों और सड़कों पर रौनक रहती है।

उसी रौनक में आज से कोई बीस बरस पहले एक रोज इसी टीले पर, मन्दिर की बगल में से निकल कर भाई रामसिंह चौराहे पर आन खड़ा हुआ था। गोरा रंग, लम्बी चमचमाती दाढ़ी, कुछ कुछ काली, कुछ कुछ सफेद, और स्वस्थ, नाटी देह। उस वक्त उसकी अवस्था चालिस पैंतालिस के लगभग होगी। बगल में एक सफेद गागर उठाये

तन पर सफेद चादर और सफेद अंगोछा पहने वह टीले पर आकर खड़ा हो गया। मगर किसी ने उसकी ओर विशेष ध्यान न दिया। चौराहे के एक तरफ कुछ लड़के खेल रहे थे। भाई रामसिंह धीरे-धीरे उनकी ओर चला गया, और एक लड़के को अपनी ओर बुलाकर बोला—लो बेटा, यह पियो।

और गागर में से कटोरी भरकर लड़के की ओर बढ़ायी।

लड़के सब इकट्ठे हो गये और बड़े कौतूहल से उसकी ओर देखने लगे। फिर एक लड़के ने कटोरी भाई रामसिंह के हाथ में से ले ली और बार-बार इधर-उधर देखने के बाद मुँह को लगायी, और लगाते ही दूसरे क्षण उसे थूक दिया और कटोरी फेंक दी।

यह चिरायता है बेटा, इससे फोड़े-फुंसी नहीं होते। लो, थोड़ा-थोड़ा सब पियो।

मगर किसी ने हाथ न बढ़ाया. जिसने चखा था, वह अब भी थू-थू कर रहा था, और बाकी लड़के खड़े उस पर हँस रहे थे।

आखिर भाई रामसिंह उनसे हटकर एक सड़क से नीचे उतरने लगा। लड़के फिर कुतूहलवश थोड़ी दूर तक उसके पीछे-पीछे गये, फिर लौट आये और अपने खेल में जुट गये।

इसके बाद भाई रामसिंह सड़क उतरने लगा और राह जाते बच्चे, बड़े, सबको चिरायता पीने का निमन्त्रण देने लगा. फिर धीरे-धीरे शहर की गलियों में खो गया।

इस तरह भाई रामसिंह का शहर में उदय हुआ था।

कुछ ही दिनों में भाई रामसिंह को शहर के सब लोग जान गये। जहाँ जाता, स्त्रियाँ अपने खेलते बच्चों को पकड़ पकड़कर उसके सामने ले जातीं, और जबरन चिरायता पिलवातीं' क्योंकि चिरायता सचमुच फोड़े फुंसियों का बेहतरीन इलाज है। जिस गली में वह पहुँचता, बच्चे फौरन छिप जाते और माँए उनके पीछे-पीछे भगने लगतीं, लोग हँसते और भाई रामसिंह की खिल्ली उड़ाते। लोगों के लिए भाई रामसिंह

एक तमाशा बन गया। मगर उसके उत्साह में कोई शिथिलता नहीं आयी। बल्कि कुछ ही दिनों बाद उसकी गागर में छोटा-सा नल लग गया, ताकि चिरायता उँडेलने में आसानी हो; फिर एक कटोरी की बजाय तीन कटोरियाँ आ गयीं, ताकि तीन आदमी एक साथ पी सकें; फिर भाई रामसिंह के कन्धे से एक बिगुल भी लटकने लगा। जिस मुहल्ले में जाता पहले बिगुल बजाकर अपने आगमन की सूचना दे देता।

लोग तरह-तरह के अनुमान लगाने लगे। कोई कहता कि साथ वाले कस्बे से आया है, वहाँ उसकी कपड़े की दूकान थी, कोई कहता, जासूस है किसी हत्यारे की खोज में आया है। मेरे शहर वाले अनुमान भी लगाते हैं तो छाती ठोक कर। किसी ने कहा—इसके पास चालीस हजार रुपया नकद है, मैंने खुद देखा है —लड़के कहते की श्मशान-भूमि में रहता है और रात के वक्त भी शहर के चक्कर काटता भूतों को चिरायता पिलाता है। तरह-तरह की बातें उठीं, पर धीरे-धीरे शांत हो गई। भाई रामसिंह बहुत बोलता न था। उससे जो पूछता, तो कहता— गुरु महाराज के चरणों में रहता हूँ, उन्हीं का दास हूँ।

जब चैत बैसाख गुजर गये, तो भाई रामसिंह गागर में ठंडा पानी पिलाने लग गया। जब मन की मौज आती, तो किसी किसी दिन पानी की जगह सन्दल का शर्बत पिलाने लगता। हमारे शहर का सन्दल का शरबत दुनिया भर में मशहूर है। और जाड़े के दिनों में कभी कभी इलाइचीयों वाली चाय भी लोगों को मिलती। गरज कि भाई रामसिंह का चक्कर ज्यों का त्यों कायम रहा, और शहर में चिरायतेवाला साधु के नामसे वह मशहूर हो गया।

इसी निस्वार्थ सेवा में दस बरस बीत गये। अब जिस साधू का अपना कोइ स्थान हो, अपना अड्डा हो वह साधु से सन्त जल्दी बन जाता है; मगर जो सदा घूमता रहे, उसकी चर्चा चाहे जितनी भी हो, मगर वह भाई का भाई ही रहता है। भाई रामसिंह के साथ भी यही कुछ हुआ। इन दस बरसों में भाई जी की दाढ़ी के बाल रेशम की तरह

सफेद हो गये, चेहरे पर झुर्रियाँ आ गयीं, हालांकि चेहरे की रौनक ज्यों की त्यों कायम रही, क्योंकि जो भी आदमी गागर उठाये तीन चार मील का चक्कर रोज काटे उसके चेहरे पर तो लाली रहेगी ही। मगर अब भी भाई रामसिंह चिरायतेवाला साधु ही रहा। अब भी गलियों में से घूमता हुआ जाता, तो वही लोगों को नमस्ते करता, उसे नमस्कार करने के लिए कोई अपनी जगह से न उठता। बात भी ठीक थी, भला चिरायता पिलाने से भी कभी कोई सन्त हुआ है ?

पर एक दिन न मालूम भाई रामसिंह को वैराग्य हुआ, या भ्रम हुआ या उसने कोई स्वप्न देखा, या सचमुच ही उसे आकाशवाणी हुई, सुबह सबेरे टीले पर आकर कहने लगा—भक्तों ! रात को गुरु महाराज का का परवाना आ गया है, मैं जा रहा हूँ। कल सुबह दिन चढ़ते चढ़ते मैं चोला बदल जाऊँगा।

यह बात उसने टीले पर बुद्धसिंह बजाज की दूकान के सामने कही, जहाँ वह दिन में पहली बार बिगुल बजाता था। आज भी उसकी बगल में गागर थी। बुद्धसिंह बजाज ने सुना, पर कोई विशेष ध्यान न दिया मगर उसके छोटे भाई ने जो नामधारी सिक्ख हो गया था, सुन लिया। कहने लगा—सुना, भाई रामसिंह ने क्या कहा ?—वह चोला बदलने जा रहे हैं।

सरदार बुद्धसिंह ने जवाब दिया—मैंने सुन लिया है, तू समझता है, मैंने सुना नहीं ? चोला बदलता है तो बदले, मुझे उसके मुँह में आग थोड़े देनी है ! तेरे बेटे चिरायता पीते रहे हैं, तू उसके पाँव पकड़ !

इस पर दोनों भाई हँसकर चुप हो गये।

मगर दुकान पर बैठी हुई दो स्त्रियों के कान में यह बात पड़ गयी। पहले वह भी हँसीं, मगर जब कपड़ा लेकर लौटती हुई वह सेवाराम की गली में से गुजरी और गली के मोड़ पर भाई रामसिंह को खड़े चिरायता पिलाते हुए देखा, तो उनके दिल को कुछ हो गया। एक ने

दुपट्टे का आँचल मुँह पर रखते हुए कहा—हाय, बेचारा ! चोला छोड़ता है, और आज भी चिरायता पिला रहा है !

बस फिर क्या था। खबर के फैलने मे देर न लगी। सेवाराम की गली से बात नये मुहल्ले में पहुँची, वहाँ से छाली मुहल्ले में, फिर लुन्डा बाजार, भाभड़खाना, सैदपुरी दरवाजा। एक गली से दूसरी गली तक पहुँचते हुए उसकी रफ्तार तेज होती गयी, यहाँ तक कि थोड़ी देर में यह खबर एक बवन्डर की तरह शहर की गलियों और सड़कों पर घूमने लगी, कि चिरायते वाला भाई रामसिंह कल सुबह ४ बजे पौ फटते ही चोला छोड़ देगा।

जब भाई रामसिंह की गागर नियमानुकूल लुण्डा बाजार के सिरे पर पहुँचकर खतम हो गयी, और वहीं से उसने कदम फेर लिये और शहर के बाहर जहाँ एक पेड़ों का झुरमुट है, जिसे हम तपोबन कहते हैं, एक पेड़ के नीचे जा बैठा।

तपोवन शहर के बाहर कीकर और पलाश के पेड़ों का एक झुरमुट है, जहाँ एक पुराना कुँआ है, जिसपर लोग सुबह दातून करने और नहाने जाते हैं। वहाँ रहता कोई नहीं, केवल कभी-कभी आए-गए सन्तों की कथा होती है।

दोपहर तक तो तपोवन में शान्ति रही, मगर ज्योंही दो बजे का वक्त हुआ और स्त्रियों ने चौके उठाये, तो कई भक्तिनियाँ हरिनाम जपती हुई दिल में हाय-हाय करती, भाई रामसिंह को खोजती वहाँ आ पहुँची। चार बजते-बजते स्त्रियों की भीड़ लग गयी। पुरुषों ने सुना, तो हँसे, मगर धीरे धीरे उनका धैर्य भी टूटने लगा। क्या मालूम यह भी कोई पहुँचा हुआ सन्त हो ! दर्शन करने में क्य हर्ज है ? कुछ तमाशे के ख्याल से, बच्चे, बूढ़े, जवान, सब वहाँ पहुँचने लगे। आखिर शहर तो वहीं था, जो जाये तो सब जायें, और जो सब जायें, तो घर में बैठना हराम है !

जो भाई रामसिंह अभी तक भाई रामसिंह ही था, अब दोपहर तक

वह सन्त बन गया, और शाम होते होते सन्त महाराज की उपाधि उसे मिल गयी। कई मुरादें बिन माँगे पूरी हो जाती हैं। जिसे दस बरस तक किसी ने न पूछा था, आज उसी के दर्शन को हजारों लोग एँड़ियाँ उठा उठा कर झाँक रहे थे। पेड़ के नीचे आसन बिछा दिया गया। फिर कहीं से चौकी आ गयी। दर्शनों के लिए सन्त महाराज का ऊँचा बैठना जरूरी था। एक भक्त चँवर झेलने लगा। फूलों के ढेर लगने लगे। कहीं से गैस का लैम्प आ गया, फिर दो लैम्प और आ गये। स्त्रियों की भक्ति का तो कोई अन्त न था। पैसे, आटा, घी निछावर होने लगे। भाई रामसिंह को भी इसी के अनुसार आँखें बन्द किये हुए ध्यानमग्न होकर बैठना पड़ा। फिर कहीं से बाजे, तबले वगैरा आ गये। कीर्तन होने लगा। लोग झुक-झुककर भाई रामसिंह की दिव्य मूर्ति को प्रणाम करने लगे।

बात मुसलमानों के मुहल्ले में भी जा पहुँची। सन्त पीर सबके साझे होते हैं। मुसलमान भी आ पहुँचे। वाह! वाह! क्या जमाल है! स्त्रियां घरों को लौटतीं, मगर घरों में उनके पाँव कब टिकते थे? जो दाल रोटी बन पाती, बनाकर फिर दौड़ी वहाँ जा पहुंचतीं।

रात के बारह बज गये। उत्तेजना बढ़ने लगी। एक कोमल हृदय की बूढ़ी औरत ने हाथ बाँधकर भाई जी से विनती की कि महाराज! दया करो, चोला न बदलो! महाराज ने सुना, मुस्कराये, और चुपचाप आँखें आकाश की ओर करके फिर ध्यानमग्न हो गये। सारे शहर का दिल धक् धक् कर रहा था। उत्कण्ठित और उत्तेजित लोग इसी इन्तजार में थे कि कब चार बजें और वह चोला बदलने का चमत्कार देखें।

रात गहरी होने लगी। लोग घड़ियाँ देखन लगे। उस रात शहर भर में कोई नहीं सोया। गलियाँ सुनसान पड़ गईं, उनमें कोई आवाज आती, तो दौड़ते कदमों की। एक दरवाजा खटकता, एक आवाज आती—दो बजे हैं, बस अब दो घण्टे बाकी रह गये। तू बैठ मैं अभी

आता हूँ। तू जाएगी, तो बच्चों को कौन देखेगा ? मैं लौट आऊँ, तो तू चली जाना।—रात भर यही किस्सा होता रहा। जब मर्द के कदम दूर निकल जाते तो औरत के कदमों की आवाज आने लगती।

तीन बज गये, फिर साढ़े तीन। कीर्तन में अब हजारों स्त्री पुरुष भाग ले रहे थे। ऊँचे कण्ठ से गुरु वाणी गाई जा रही थी। पेड़ों पर बैठे हुए पंछी भी पत्तों में से झाँक झाँककर यह दिव्य चमत्कार देख रहे थे।

पौने चार बजते बजते जयजयकार हो उठी। महाराज ने आँखें खोलीं। स्त्रियों ने रो रोकर एक दूसरी को कहा—वक्त आन पहुँचा। देखो, इन्हें अपने आप पता चल गया।

अँधेरा बहुत गहरा था। मगर लोग अपनी अपनी घड़ियों पर एक एक मिनट ऊँची आवाज में गिन रहे थे। हमारे शहर में चार बजे का वक्त पौ फटने का वक्त माना जाता है।

चार बजने में पाँच मिनट पर गुरू महाराज वेदी पर से उठ खड़े हुए और हाथ जोड़े, सिर नवाये, नीचे आकर ऐन वेदी के सामने लम्बे लेट गये, और छाती पर दोनों हाथ जोड़ कर आँखें बन्द कर लीं। श्रद्धा और भक्ति के बाँध टूट पड़े, औरतें सिसकियाँ ले लेकर रो उठीं, और महाराज पर फिर से पुष्प वर्षा होने लगी।

चार बजने में एक मिनट, एकदम सन्नाटा छा गया। चारों तरफ चुप्पी छा गयी। हरिनाम की ध्वनि बिल्कुल शाँत हो गयी। स्त्रियों के आँसू सूख गये और आँखें भाई रामसिंह के चेहरे पर पड़ गयीं। सब लोग साँस रोके एक टक गुरु महाराज की ओर देख रहे थे।

ठीक चार बजे महाराज ने आँखें बन्द करलीं और हिलना-डुलना छोड़ दिया।

लोग चुपचाप आँखें फाड़े देखते रह गये। दो एक ने हाथ आकाश की ओर उठा कर, रोने की आवाज में कहा—गये ! हमें छोड़कर चले गये !

फिर शहर के एक मुखिया ने धीरे से पास आकर कुछ फूल हटाते हुए, महाराज की नब्ज देखी। सिर हिलाकर बोले—धीमी है, मगर चल रही है।

लोग चुप थे। उनकी आँखें अब भी साधु महाराज के चेहरे को देख रही थीं।

चार बज कर तीन मिनट पर फिर मुखिया ने नब्ज देखी, फिर सिर हिलाया और आहिस्ता से कहा—धीमी है, मगर चल रही है।

दूसरा मुखिया बोला—संसारी घड़ियों का क्या विश्वास ? जब ऊपर चार बजेंगे, तो चोला अपने आप छूट जायगा।

चार बजकर पाँच मिनट हो गये। नब्ज अब भी चल रही थी। मुखिया ने झुक कर कान में महाराज से पूछा—महाराज, कैसे हैं ?

जबाब धीमा सा आया—मैं इन्तजार में हूँ। मैंने अपनी तरफ से चोला छोड़ दिया है।

लोग एक एक सेकेण्ड गिन रहे थे, चार बजकर सात मिनट पर फिर मुखिया ने नब्ज पकड़ी, और मिनट भर पकड़ कर बैठे रहे। उन्होंने अब भी तनिक ऊँची आवाज में कहा—नब्ज ज्यों की त्यों चल रही है।

लोग एक दूसरे की तरफ देखने लगे। सिर हिलने लगे। चेहरों पर संशय की रेखायें नजर आने लगीं। फिर दूसरे मुखिया ने खड़े खड़े कहा—साधु महाराज, क्या देरी है ?

महाराज ने आँखें बन्द किये हुए उत्तर दिया—मैं तो तैयार हूँ, ऊपर से परवाना आये तब तो !

जो श्रद्धा और भक्ति पहले मौन प्रतीक्षा में परिणित हुई थी, अब अविश्वास और क्रोध में बदलने लगी। लोग समझने लगे, जैसे उनके साथ खिलवाड़ हुआ है, उनका अपमान किया गया है।

ऐन सवा चार बजे जब मुखिया ने चिल्लाकर पूछा कि अब क्या देरी है, हम खड़े खड़े थक गये हैं, तो भाई रामसिंह हाथ जोड़ कर उठ बैठे—भगवान मुझे रुला रहे हैं, मैं क्या करूँ ? मैं हर क्षण

इन्तजार कर रहा हूँ ।

पर इस वाक्य का उल्टा असर हुआ । औरतें भी बोलने लगीं—हैं ! देखो, यह तमाशा देखो, पाखण्डी !

दो एक सज्जन तो रात भर चमत्कार के इन्तजार में जागते रहे थे, और स्त्रियों से लड़कर आये थे, आगे बढ़ आए साले जानता नहीं यह कौन शहर है !

महाराज डरकर उठ बैठे और हाथ जोडे हुए चौकी के पास जा खड़े हुए । बोले—दिन चढ़ने से पहले चोला छोड़ जाऊँगा । भक्तो मुझे यही परवाना मिला है, आप घरों को जाओ !

अब दिन कब चढ़ेगा ? चार तो कब के बज गये !—लोगों ने चिल्ला कर कहा ।

भाइयो ! आप घर लौट जाओ । मैंने यहाँ किसी को नहीं बुलाया । आप लोग जाओ...सूरज चढ़ने से पहले...

मगर लोगों की आँखों में खून उतर आया । देखते ही देखते लोगों की बाढ़ आगे बढ़ आयी । लोग मुक्के कसने लगे । शहर के पाँच सात शोहदे और मुस्टंडे सामने आ गये ।

भाई रामसिंह डर कर चौकी के पास से हट गया, और एक पेड़ के नीचे जा खड़ा हुआ ।

बस, उसका वहाँ से हिलना था, कि धक्का मुक्की शुरू हो गई । भाई रामसिंह को घूँसे पर घूँसे पड़ने लगे । जिसे जो हाथ लगा, उसी से मरम्मत करने लगा ।

भाई रामसिंह की भागती काया कभी एक पेड़ के पीछे और कभी दूसरे के पीछे आश्रय ढूंढ़ने लगा मगर जहां वह जाता, भक्त वहीं जा पहुंचते । भला भक्तों से भी कभी कोई भाग सका है ? पहले घूसे और मुक्के पड़ते रहे, जब भाग खड़ा हुआ, तो पत्थर और जूते पड़ने लगे । भाई रामसिंह बार बार चिल्लाया—भाइयों ! मैंने किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा । मुझे मत मारो । मैंने तुम्हारी सेवा की है ।...

मगर भक्तों की भावना में कोई शिथिलता नहीं आई। हां कुछ एक ने छुड़ाने की कोशिश की, मगर पत्थरों के डर से वह भी पीछे हट गए।

फिर सचमुत एक चमत्कार हुआ, जिसकी चर्चा आज भी हमारे शहर के लोग बड़े गर्व से करते हैं।

ऐन सूरज चढ़ते-चढ़ते भाई रामसिंह ने चोला बदल दिया और प्राण पखेरू उड़कर भगवान के पास जा पहुँचे, केवल उसकी देह,किचड़ मिट्टी और खून से लथपथ हो गयी थी, और उसके ईद गिर्द जूतों और पत्थरों का ढेर लग गया था।

मगर वह तो आखिर विसर्जित चोला था, उसे मिट्टी में मिलना ही था।

इन चमत्कार का आभास होने में देर नहीं लगी। जब दिन चढ़ा आया और रात का भ्रम दूर हुआ तो भाई रामसिंह की देह एक स्पष्ट सत्य की तरह सामने नजर आने लगी, तो एक ने कहा — ठीक ही तो कहता था। सूरज चढ़ने से पहले मर गया न ?

फिर दूसरे ने कहा—भला पत्थर मारन की क्या जरूरत थी ? मर तो उसे यों भी जाना था। हम लोगों मे धैर्य नहीं।

बस, पिर क्या था, स्त्रियों ने अपने दुपट्टे गले मे डाल लिये। आँसू बहने लगे। भक्त फिर इकट्ठे होने शुरू हो गये। आँसू बहने लगे जूते पत्थर हटा दिये गये, और पुष्प वर्षा होने लगीं, भाई रामसिंह का विर्जित चोला फुलों के नीचे फिर दबने लगा। और भाई रामसिंह की अर्थी ऐसी सजधज कर निकली कि शहरवाले खुद अपनी श्रद्धा पर हश हश लगा।

और भाई रामसिंह की समाधि तपोवन के पास ऐन उसी जगह पर बनाई गई, जहां वह आसन पर बैठे थे ! ऐसी सफ़ेद सुन्दर चमकती इमारत है कि रात को भी दूर से नजर आती है और उस पर एक

गोल गुम्बज भी है, सन्त जी की गागर वहां स्थापित है, और सफ़ेद नया बाना भी, और एक जोड़ा खड़ाउंओं का भी, जो किसी भक्त ने अपने पैसों से ख़रीदकर वहां रख दिया गया था। हमारे शहर के बच्चे बूढ़े सच्चे दिल से मानते हैं कि कोई औलिया इस युग में हुआ है, जो सन्त रामसिंह, जि। भगवान ने एक दिन दर्शन देकर सीधे अपने पास बुला लिया था।

श्री कृष्णबलदेव वैद

बीच का दरवाजा

बाबू रामदास खन्ना और मैं पिछले नौ-दस महीने से एक ही मकान में रह रहे हैं। उनके पास एक कमरा और एक रसोई घर है और मेरे पास सिर्फ एक कमरा। मेरा कमरा उनके कमरे से जरा छोटा है। एक कमरा स्टोर का और है, जिसे मालिक-मकान ने बन्द कर रखा है। वह स्वयं दरियागंज में रहता है जहाँ सड़क के किनारे उसका एक दो मंजिला मकान है। सुनता हूं वह इस मकान से दुगना बड़ा है। और उसमें उसके बड़े लड़के के अलावा एक किरायेदार भी है। हर महीने की दूसरी तारीख की शाम को मलिक मकान स्वयं या उसका कोई आदमी आता है और मुझसे ३५) और बाबू रामदास से ४५) किराये के लेकर चला जाता है, और मिसेज रामदास के कथनानुसार हमारे सिर से एक बोझ उतर जाता है।

मेरे कमरे का एक दरवाजा बाबू रामदास के कमरे में खुलता है। इस दरवाजे की मैंने अपनी तरफ से चिटकनी चढ़ा रखी है और बाबू रामदास ने अपनी तरफ से; इसके साथ-साथ ट्रंकों की एक दीवार खड़ी कर रखी है, जिस पर बैठकर बाबू रामदास का छोटा बच्चा ढोल बजाया करता है और जब कभी इस शगल में बहुत मग्न हो जाता है तो धड़ाम से कभी फर्श पर और कभी साथ लगी चारपाई पर गिरता है। जब चारपाई पर गिरता है तो खूब किलकारियाँ भरता है और मिसेज

रामदास—जिनके लिए मेरा प्राइवेट नाम 'पीली कबूतरी' है—जहाँ भी होती हैं दौड़ कर उसे गोद में उठा लेती हैं, जोर-शोर से चूमने-चाटने लगती हैं, बच्चा अधिक खिलखिलाता है और वह दांत पीस-पीस कर कहतीं हैं, "मेरा छोटा सा बाबू, मेरा अफसर, मेरा थानेदार।"

लेकिन जब कभी वह छोटा-सा बाबू—मैं तो उसे लगभग थानेदार के नाम से ही पुकारता हूं—धड़ाम से फर्श पर गिरता है, तो चीख-चीख कर रोता है साँस से साँस नहीं मिला पाता और मिसेज रामदास जहाँ भी होती हैं दौड़कर उसे गोद में उठा लेतीं हैं। उसके बाद उनके कमरे में काफी कुहराम-सा मचा रहता है। सारा कुनबा इस समस्या पर बहस करने लगता है कि ट्रंकों के लिए कौन-सी ऐसी जगह बनायी जाएँ कि मुन्नु, इस घबराहट में उसकी सारी अफसरी शान-शौकत मिट्टी में मिल जाती है, जब गिरे तो किसी न किसी चारपाई पर ही। फिर बहुत देर तक ट्रंकों को उठा-उठा कर और घसीट-घसीट कर इधर-उधर रखने की किचिर-'किचिर' कानों में आती रहती है। सब चीजें उलट-पुलट कर दी जाती हैं और ले-देकर ट्रंक फिर अपनी पुरानी जगह पर ही लगा दिये जाते हैं।

क्योंकि बाबू रामदास का कमरा यद्यपि मेरे कमरे से बड़ा है लेकिन उनमें उनका छोटा-मोटा घरेलू सामान ठसाठस भरा रहता है और ट्रंकों के लिए उससे उपयुक्त स्थान निकालने की कोई सम्भावना नहीं। कई बार ऐसे मौकों पर बाबू रामदास एक सुझाव देते हैं जिसे पीली कबूतरी' एक दम रद कर देती हैं। वह कहते हैं, 'नीचे के दो ट्रंकों को छोड़ बाकी सब खाली पड़े हैं, क्यों न इन्हें बेच दिया जाए किसी कबाड़ी के पास ? व्यर्थ में जगह घेरे हुए हैं" लेकिन एक दिन बातों-बातों में, शरारतन समझिए या यों ही, मैंने उनसे वे दोनों-तीनों खाली ट्रंक-मुहँ-माँगी कीमत पर खरीद लेने की इच्छा की थी, जिसके उत्तर में बाबू रामदास धीरे से मुस्करा दिये थे। साधारण अवस्था में वह इतना कम मुस्कराते हैं कि ठंडे दिमाग से सोचने पर ट्रंकों को बेचना स्वयं बाबू

रामदास को बेहूदा दिखाई देता होगा।

एक और प्रस्ताव के बारे में जो हमेशा मिसेज रामदास की तरफ से आता है, मेरी अपनी राय तो यही है कि किन्हीं विशेष कठिनाईयों के कारण वह भी कार्यान्वित नहीं किया जा सकता, यानी जब वह रोते-हलकाते थानेदार को गले लगा कर यह माँग करने लगती हैं—"क्यों नहीं कोई दो कमरे वाला मकान ढूंढ लेते ?" तो कम-से कम मुझे तो यही लगता है जैसे वह कह रही हों, "क्यों नहीं तुम आकाश से दो तारे तोड़ लाते ?" कुछ भी हो, दो कमरे वाला मकान बाबू रामदास और मेरी सामाजिकता के लोगों की पहुँच से बहुत परे है।

उनकी यह मुश्किल को हल करने के लिए एक तजवीज़ मैंने भी पेश की थी जिस पर कुछ देर ग़ौर करने के बाद बाबू रामदास ने उसे रद्द कर दिया था। वह प्रस्ताव यह था कि खाली ट्रंक तो रख लिये जाएँ, मेरे कमरे में और नीचे के दोनों ट्रंक दोनों चारपाईयों के नीचे धकेल दिये जाएँ, बीच का दरवाजा खुला रहे ताकि जब मुन्ना थानेदार का जी चाहे वह घिसट-घिसट कर मेरे कमरे में आ जाए, क्योंकि मेरे कमरे में काफी जगह है। उन ट्रंकों को अलग-अलग रखा जाय, जिससे थानेदार साहब के गिरने के 'चान्सेज' भी कम हो जाएँ, और वह कभी गिर भी पड़ें तो अधिक चोट न आए। रविवार को छोड़ बाकी दिन तो मैं वैसे भी दिन भर दफ्तर में रहता हूँ। इसलिए मुझे कोई कष्ट न होगा और सब काम ठीक हो जाएगा।

कहने को तो मैंने कह दिया क्योंकि बाबू रामदास और मैं दोनों एक दूसरे के बहुत निकट हैं, एक ही दफ्तर में काम करते हैं और उनकी धर्म-पत्नी को मैं 'चची' कह कर पुकारता हूँ, लेकिन कहते समय मैं शायद यह भूल गया कि बाबू रामदास की दोनों बड़ी लड़कियाँ जवान हैं और मैं खुद अगर जवान नहीं तो बूढ़ा भी नहीं हूँ, अकेला हूँ, और कुछ भी हो पराया हूँ। अगर दरवाजा खुला रहे और इस तरह खुला आना-जाना शुरु हो जाए तो कोई मुसीबत खड़ी हो सकती है। ये सब बातें मनगढ़-

न्ते ही नहीं बल्कि अपने कानों सुनी हैं, क्योंकि बाबू रामदास के कमरे में जो बात होती है। मेरे कमरे में साफ सुनाई देती है। मैं समझता हूँ कि मेरे पड़ोसियों का यह भ्रम सिर्फ उचित ही न था बल्कि जरूरी भी। क्योंकि जवानी में क्या पता मनुष्य कब क्या कर बैठे ?

और इन सबके अलावा दो एक सुझाव और भी हैं जिन पर शायद बाबू रामदास और उनके घर वालों को सब से पहले ध्यान देना चाहिए था। पहला यह कि बच्चे को अगर ढोल ही बजाना है, तो क्यों न उसे बाजार से एक ढोल ला दिया जाऐ ? पर, कदाचित बाबू रामदास इस बात से डरते हैं कि आज अगर उसे ढोल ला कर दें और कल दूसरी बच्चियाँ किसी दूसरी चीज का तकाजा कर बैठें, तो उन्हें ना कैसे करेंगे ? और फिर बाजार के ढोल ज्यादा देर चलते भी तो नहीं हैं। दूसरा सुझाव यह कि क्यों न दुलार-पुचकार कर मुन्नू की यह आदत ही छुड़ा दी जाऐ, ताकि बाबू रामदास की चहेती कहावत के अनुसार 'न रहे बाँस न बाजे बांसुरी'।

लेकिन सवाल यह पैदा होता है कि अगर कभी कभी मुन्नू को इन ट्रंकों पर न बिठाया जाऐ तो कहां बिठाला जाए ? दोनों चारपाई पर दोपहर को 'पीली कबूतरी' और लड़कियाँ—रानी और शीला लेट जाती हैं। बीच में या दो तीन मुरब्बा फुट जगह खाली बचती है, जिसमें छोटी लड़कियाँ-मुन्नी और देशी बठकर स्कूल का काम करतीं हैं। अब, अगर थानेदार साहब सोये हुए हों तो उन्हें कहीं भी डाल दिया जाए कोई फर्क नहीं पड़ता, लेकिन यदि जागते हों तो उन्हें मुन्नी और देशी के पास नहीं बिठाया जा सकता क्योंकि वह उनकी कापियाँ, किताबें नोचने लगते हैं,एक ही झपट्टे में उनकी सारी स्याही मुँह पर पोत लेते हैं, उनकी कलम-पेन्सिल चबाने लगते हैं और फिर हुमक-हुमक कर यह माँग करने लगते हैं कि उन्हें ट्रंकों पर बिठाया ही बिठाया जाए।

बात वास्तविक यह है कि या तो शुरू से ही यह आदत न डाली जाती लेकिन अब उनके इस अत्याधिक शौक को सिरे से उपेक्षित कर

देना उनके साथ अन्याय के बराबर होगा; क्योंकि बावजूद उन तमाम चोटों के जो अभी तक ट्रंकों से गिरने के कारण थानेदार साहब को आई है, उन्हें जो लुत्फ ट्रंकों पर बैठ कर ढोल बजाने में आता है, उसका कोई मुकाबला नहीं। फिर कभी-कभी वहाँ बैठे-बैठे उन्हें साथ वाली दीवार पर से कोई छिपकली फिसलती नजर आ जाती है तो वह हँस-हँस कर लोट-पोट होने लगते हैं। दरअसल दीवार पर रेंगती हुई छिपकली उनके लिए इतना आकर्षक दृश्य है कि जब हर रोज सुबह वह बाबू रामदास के साथ जाने के लिए ज़िद करते हैं तब यदि कोई उन्हें झूठमूठ भी कह दे "मुन्नू, वह देखो किल्ली !" तो उसका ध्यान बाबू रामदास की तरफ़ से हट जाता है और वह ट्रंकों की उस दीवार की तरफ़ हाथ फैलाने लगते हैं।

किस्सा मुख्तसर: ट्रंकों की दीवार अभी तक अपनी जगह पर स्थित है और जब कभी रविवार के दिन सुबह-सवेरे खटाक-खटाक ऊपर के दो-तीन ट्रंक उतार कर नीचे रखे जाते तो मैं अपने कमरे पड़ा, पड़ा अन्दाज लगा लेता हूँ कि आज मिसेज रामदास, रानी और शीला में से किसी एक को साथ लेकर अस्पताल जाने की तैयारी कर रही हैं। सुनता हूँ 'पीली कबूतरी' का पीला रंग, जिसके कारण मैंने मिसेज रामदास को यह अजीब नाम दे रखा है, कैलशियम की कमी से है। उनको हमेशा आधे सिर में भी दर्द रहता है, जिसका एक कारण शायद यह भी हो कि पिछले तीन चार महीनों से वह एक एक करके अपने सब दाँत निकलवा रही हैं, जिनमें एक वर्ष हुआ कीड़ा लग गया था। इसलिए उनका अस्पताल जाना बाकायदा एक प्रोग्राम का रूप ले चुका है।

यह प्रोग्राम रविवार के दिन ही रखा जाता है, क्योंकि बाकी दिनों तो बाबू रामदास सुबह ९ बजे दफ्तर जाते और शाम को छह और सात के लगभग वापस लौटते हैं। दोनों छोटी बच्चियाँ स्कूल चली जाती हैं और बड़ी लड़कियों को अकेला घर पर छोड़ जाना मिसेज

रामदास अच्छा नहीं समझतीं । बरहाल रविवार को जब मिसेज रामदास अस्पताल चली जाती हैं तो बाबू रामदास मुन्नू को उठाकर मेरे पास आ बैठते हैं—या कम से कम कुछ दिन पहले तो उनका यही नियम था, इधर कुछ दिनों से खिंचाव सा हो गया है ।

बात तो छोटी सी थी मगर मेरी आशा के विरुद्ध उन्हें शायद चुभ ही गई । सोचता हूँ गलती मेरी ही थी । अगर बोलने से पहले मैंने बात को तौल लिया होता तो यह स्थिति न पहुँचती । हुआ दर-असल में यों, कि कुछ दिनों से मैं देख रहा था कि बाबू रामदास हर वक्त एक ही बात को पीसते रहते हैं । । दफ्तर जाते समय, दफ्तर में, घर पहुँच कर, रात को, रविवार के दिन, जैसे कि वह बात उनके सिर पर सवार हो गई हो । इन नौ दस महीनों में मैंने बाबू रामदास के अनगिनत दुखड़े, अत्यन्त सहृदयता से सुने हैं, वे भी जो उन्होंने मुझ से कहे और वे भी जिनकी चर्चा उनके अपने कमरे में हुई । उनकी शिकायतों को दूर करने के लिए उनके साथ बैठकर सोच विचार किया है । मुझे उन के साथ सहानुभूति है कि जब वह मुँह लटकाए दृष्टि नीची किए धीरे-धीरे अपनी परेशानियों का वर्णन दुखद लहजे में करते हैं तो मुझे अपने पिता याद आ जाते हैं ।

वैसे तो मेरे दिल में मिसेज रामदास और बाबू रामदास के लिए बड़ा आदर है, क्योंकि सब मुश्किलों के बावजूद कभी वे आपस में लड़े-झगड़े नहीं, कभी बाबू रामदास ने गुस्से में रोटी की थाली को ठोकर नहीं मारी और कभी मिसेज रामदास ने मैके चले जाने की धमकी नहीं दी । कभी उन्होंने मुझे यह नहीं अनुभव होने दिया कि वह जीवन से निराश हैं । मैं इन सब बातों की इसलिए भी प्रशंसा करता हूँ, क्योंकि हमारे अपने घर में हर समय सिर-फुटव्वल होती रहती है, कोई किसी से सीधे मुँह बात नहीं करता । खासकर माँ तो बात-बात पर आपे से बाहर हो जाती है और कभी-कभी तो इतना परेशान करती है कि हम सबको नानी याद आ जाती है कि जिसकी बदौलत हमें ऐसी माँ प्राप्त हुई ।

यह सब है फिर भी बाबू रामदास और मेरी उमर में बरसों का अन्तर है, इसलिए कभी-कभी उनकी बातों से थोड़ा सा ऊब भी जाता हूँ। जिस बात पर कुछ दिन हुए नाराज हो गए उसने तो मेरी नाक में दम कर दिया। क्योंकि जाने हुआ क्या कि उठते-बैठते जहाँ मिलते, जितनी देर के लिए मिलते, बस वही एक रट, "रानी इतनी बड़ी हो गई है नरेन्द्र साहब! अब तो इसने एफ० ए० की परीक्षा भी दे दी। हमारी तो नींद गायब हो गई है। कोई लड़का मिल जाए तो ...। लेकिन लड़का हम-जैसों को कहाँ से मिलेगा? लड़कों के दिमाग तो सातवें आसमान पर है। कुछ पल्ले हो या न हो, घर ऊचा ढूँढते है, अब आप ही बताइए नरेन्द्र साहब, हम क्या करें?"

अगर मैं उनकी दिलजोही करने के खयाल से कहता, "घबराइए नहीं सब ठीक हो जाएगा" तो फौरन दबाब देते, "आप नहीं समझते नरेन्द्र साहब! जब किसी के घर एक लड़की पैदा होती है तो घर की दीवारें काँप उठती हैं और इधर तो एक नहीं चार हैं, चार!" अगर मैं कह देता कि मुन्नी और देशी तो अभी छोटी है, शीला ने भी इसी बर्ष मैट्रिक का इम्तहान दिया है, अभी तो रानी की ही चिन्ता कीजिए, तो वह कहने लगते, "आप भी भोले बादशाह हैं नरेन्द्र साहब! लड़कियों को बड़े होते क्या देर लगती है? आज इतनी, कल उतनी। रानी और शीला में तो वैसे भी कोई फर्क नहीं। मैट्रिक का इम्तहान बेशक उसने अभी दिया है लेकिन आप से क्या छिपा है, उसकी उमर न होगी तो बीस साल की होगी ही। रानी से सिर्फ एक बर्ष छोटी है। परीक्षा भी को छोड़िए। परीक्षा तो अगर आपने न कहा होता, तो हम रानी को न दिलवाते। आप जानते हैं उसे कितने साल हो गए हैं मैट्रिक किए हुए? पूरे पाँच साल! आप से क्या छिपा है?"

एक दिन मैने कह दिया, 'खन्ना साहब, शादी भी हो जाएगी पहले बी० ए० तो कर लेने दीजिए उसे।" वह बोले, "ना भाई ना, बी० ए० से क्या फायदा? हम तो एफ० ए० कर के पछता रहे हैं। सोचिए न

नरेन्द्र साहब, जो चार पैसे हैं, वे एफ० ए०, बी० ए० में लगा दें, तो विवाह किस से करेंगे ? आखिर उसके लिए भी तो पैसा चाहिए।"

मैंने बात बदलने के लिए कह दिया "कोई और खबर सुनाइए।"

"आप को और खबरों की पड़ी है और इधर एक-एक दिन गुजारना पहाड़ होगया है। आप की चाची तो घुलती जा रही है जैसे गर्मियों में बर्फ। आप समझते नहीं नरेन्द्र साहब!"

तो इसी तरह के फिकरे सुनते-सुनते मेरे कान पकने लगे। सामने जो बात होती वह भी मेरे धैर्य की कम कड़ी आजमायश नहीं थी, उसके साथ उनके अपने कमरे में जो फुस-फुस सुबह-शाम लगी रहती उसकी भनक भी मेरे कान में पड़ती अगत्या एक दिन झुँझला कर मैंने वह बात कह दी, जो पिछले कई दिनों से मेरे होठों तक आकर लौट जाया करती थी।

रविवार का दिन था और मिसेज रामदास शायद अपना अखीरी दांत निकलवाने के लिए अस्पताल गई हुई थीं। रानी को साथ ले गयी थीं, घर में सिर्फ मुन्नू थानेदार और शीला थे। थानेदार ट्रंकों पर बैठे ढोल बजा रहे थे और शीला कदाचित् उसके पास बैठी सब्जी काट रही थीं। मुन्नी और देशो सुबह से ही अपनी मौसी के घर गई हुई थीं और बाबू रामदास मेरे पास बैठे हुए कह रहे थे "अब आप ही बताइए नरेन्द्र साहब, रानी में किस बात की कमी है ? पढ़ी-लिखी है, सीना-पिरोना उसे आता है, घर का काम-काज उससे बेहतर कोई क्या करेगा ? आपने तो सुना ही होगा मीरा के भजन कितने अच्छे गाती है ! रूप-रंग भी किसी से बुरा नहीं। क्या हुआ अगर कद इंच-दो इंच छोटा है ...।"

उनकी इस आखिरी बात से मैं सहमत नहीं। क्योंकि यद्यपि इस सारे अर्से में मैंने स्वयं रानी से न कभी पानी का गिलास ही माँग कर पिया है और न किसी के सामने आँख उठाकर उसकी तरफ देखा ही है, लेकिन इतना जरूर जानता हूँ कि उसका कद बिल्कुल उचित ऊंचाई का है। अगर लम्बी नहीं तो छोटी तो कदापि नहीं।

"सब कुछ है नरेन्द्र साहब, लेकिन पैसा नहीं तो कुछ भी नहीं। सोचता हूँ एक के लिए लड़का ढूंढने में इतनी कठिनाई हो रही है तो औरों का क्या बनेगा ? हमारी तो मिट्टी पलीत हो गयी नरेन्द्र सहाब !" मैंने अपने आप को रोकते हुए, बस इतना ही कहा "चिन्ता न कीजिए सब ठीक हो जायेगा।"

"और एक ये हरामजादे रिश्तेदार हैं ! जो मुंह में आता है बके चले जाते हैं ! हम कहते हैं कि अगर अपने घर बैठे बकवास करते रहें तो भी हमें कोई परवाह नहीं, लेकिन इधर कुछ दिनों से उन्होंने क्या काम किया है कि हमदर्दी जताने के लिए चले आते हैं। कोई कहता है—फलाँ का लड़का है ना, उसकी पहली बीबी को मरे दस वर्ष हो चुके हैं, कहो तो उससे भी बात की जा सकती है। कोई कहता है—हमारी जान पहचान में एक लड़का है तो, लेकिन उसकी एक आँख में थोड़ी सी खराबी है। आप हैरान होंगे नरेन्द्र साहब, एक ने तो हद ही करदी—अगले दिन मैं घर नहीं था, एक सहाब आए और जाते वक्त रानी की माँ से कह गए कि अगर स्वीकार हो तो उस अनन्तराम से बातचित की जा सकती है। और जानते हो नरेन्द्र सहाब, यह अनन्त राम कौन है ? हमारी जाति का एक कुबड़ा साहूकार है, कुबड़ा......!"

अब मुझसे न रहा गया, मैंने अचानक उनकी बात काटते हुए धीरे से कहा "एक बात कहूं आप से।"

बाबू रामदास गुस्से से कांप रहे थे, कुछ बोले नहीं, कदाचित् उन्होंने सुना ही नहीं।

सुनिए आप रानी का विवाह मुझसे क्यों नहीं कर देते ?"

बाबू रामदास खन्ना को तो एक साथ कई साँप सूंघ गये। उनकी आँखें यों खुल गईं जैसे अब कभी बन्द नहीं होंगी। उनके होंठ फड़फड़ाने लगे। उनके हाथ यों काँपने लगे जैसे राशा के रोगी हों। मैं डर गया, लेकिन पूर्व इसके कि मैं कुछ और कहता वह एक झटके से उठे—अपने कमरे में चले गए।

इस बात को हुए लगभग अब दो सप्ताह हो गए हैं। इस बीच में एक बार भी बाबू रामदास मेरे कमरे में नहीं आए और न ही उन्होंने मुझसे कोई बात की है। यदि कभी अनायास घर में या दफ्तर में टक्कर हो जाती है तो वह दृष्टि नीची कर लेते हैं। दो रविवार बीत चुके हैं, चाची ने मुझे खाना खाने के लिए नहीं कहा। मुन्नू थानेदार के ढोल बजाने की आवाज अब भी मेरे कमरे में आती है। दो दिन हुए कदाचित् वह फिर गिर पड़े थे, बहुत देर तक रोते रहे, लेकिन मैं उन्हें चुप कराने के लिए नहीं जा सका।

कुछ नहीं कह सकता कि बात का अन्त किस तरह होगा, क्योंकि शुरू में तो दो-तीन दिन ऐसा लगा था जैसे मुझसे कोई ऐसी भूल हो गई हो जिसका प्रायश्चित्त असम्भव हो। जब भी अपने कमरे में होता यही सुनता—

"आखिर इसे सूझा क्या ?"

"हिम्मत कैसे हुई !',

"मैं न कहती थी जो देखने में भद्र दिखते हैं वे......"

"पूछो इससे, न हमारी जात मिलती है न गोत्र, न हम तेरे घर-वालों को जानते हैं न..."

इसके बाद तीन चार दिनों के लिए मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे पड़ोसी इस बात को बिल्कुल भूल से गये हों। दरवाजे के साथ कान लगा कर भी सुनता तो कुछ सुनाई न देता।

इधर तीन चार दिनों से फिर कुछ सर-गोशियाँ होने लगी है। शाम को जब बच्चे रसोई आदि का सामान सम्हाल रहे होते हैं तो मुझे बाबू रामदास और 'पीली कबूतरी' अपने कमरे में बैठ कुछ इस प्रकार की बातें करते सुनायी देते हैं :

"एक बात कहूँ, अगर जात का झमेला न होता तो लड़का बुरा नहीं था।"

"ऐसा लड़का तो भागवानों को मिलेगा।"

"बी० ए० पास है, नौकर है, एम० ए० की तैयारी कर रहा है।"

"और फिर हमारी हालत से पूरी तरह परिचित है।"

जब से बात ने यह रूप लिया है मेरी परेशानी कम हो गई है और जहाँ तक मेरी धारणा है बाबू रामदास की भी एक परेशानी कुछ दिनों के अन्दर दूर हो जाएगी।

श्री विष्णु प्रभाकर

आकाश की छाया में

आनन्द उन दिनों बहुत परेशान था। बोर्ड के स्कूल में पांच अध्यापिकाओं की आवश्यकता थी और एक हजार प्रार्थना-पत्र आ चुके थे। आना अभी बन्द नहीं हुआ था और जैसा कि अभाव ग्रस्त देशों की परिपाटी है—बहुत-से सिफारिशी पत्र भी उनके साथ-साथ आ रहे थे।

उन पत्रों के लिखने या लिखवाने वालों में मंत्री, सचिव, बड़े-बड़े सरकारी अफसर, जन-प्रतिनिधि, दूसरे प्रतिष्ठित व्यक्ति; सभी थे। उनमें अपरिचित भी थे और परिचित भी; ऐसे परिचित कि एक बंधु ने रात के बारह बजे टेलीफोन किया—"हलो, हलो, आनन्द !"

ऊंघता हुआ आनन्द बोला—"कौन है ?'

"कौन है, अच्छा, पहचानते भी नहीं ? अरे, अभी से यह हाल है !" गुल्ली-डंडा किसके साथ खेलते थे, लड़ते किससे थे, कुट्टी किससे करते थे......"

अब आनन्द हैं कि खीज रहे हैं, सोच रहे हैं।

"हलो, हलो, सो गए ? अरे, मैं हूं मदन, मदन टोपा।"

"मदन, ओह मदन तुम ! रात को बारह बजे कहां से बोल रहे हो, यार ?"

"बोलूंगा क्या जहन्नुम से ! अरे, तुम्हारे ही शहर में हूं।"

"यानी यहीं। नहीं, नहीं, तुम झूठ बोल रहे हो।"

यानी हम झूठे भी है। भलेमानस, पांच वर्ष से यहीं हूं। 'मेहता एण्ड पुरी' में।"

"कमाल करते हो, यार, पांच वर्ष से हो और पता तक नहीं दिया।"

मदन साहब खूब हंसे। कुछ इधर उधर की बातें हुई। फिर बोले—"अरे भाई, सुना है तुम्हारी बोर्ड के स्कूल में कुछ अध्यापिकाएं रखी जा रही हैं।"

आनन्द का माथा ठनका, बोला—"अरे हां, वह तो चलता ही रहता है।'

"तो हमें भी चला दो न ! मेरी छोटी साली है, नाम है कुसुम !"

"तो यह बात है। साली की चिन्ता है।"

"चिन्ता पूरी है, यार, थर्ड डिविजन है। इसीलिए कष्ट दिया।'

"कष्ट तो क्या है पर...।"

"तो अब मैं निश्चिन्त हूं, तुम जानो तुम्हारा काम जानें।"

अब नियम से हर रोज टेलीफोन एक बार तो आ ही जाता है। दो-तीन बार स्वयं कृपा कर गए हैं। कुसुम भी दर्शन दे गई है। एक मंत्री के निजी सचिव ने केवल उसके लिए हीं आनन्द को चाय पर बुलाने की कृपा की है। प्रयाग से उनके मामा के साले का पत्र भी आया है।

और पद्मा की तो बात ही क्या है ? रजिया, राजरानी, पुष्पा, नीला, रोज और ऐसे ही अनेकानेक नारियों का इतिहास आनन्द को बार बार सुनना पड़ा है। रजिया आजकल जिस पद पर है वहां वेतन कम है। राजारानी के विवाह योग्य दो लड़कियां हैं। रोज पति के पास आना चाहती है। नीला एम० ए० पास है। पुष्पा के पति अच्छे पद पर हैं चार सौ पाते हैं। पर खर्च है कि पूरा ही नहीं होता। वे लोग आनन्द के अच्छे परिचित हैं, लेकिन पद्मा तो आनन्द के एक परम मित्र की मंगेतर है और वह परम मित्र एक प्रसिद्ध पत्रकार है......

बेचारा आनन्द ! उसे ऐसा लगता है कि वह इस तूफान में डूब जाएगा। लेकिन डूबना तो मना है और तैरना असम्भव ! परिणाम यह होता है कि आनन्द का दम घुटने लगता है। वह कुछ चाहने लगता है......कुछ......

आखिर आनन्द ने देखा कि गणित के अनेक नियम काम में लाकर कार्यालय ने पचास प्रार्थियों को मुलाकात के लिए बुला भेजा है। उसने पाया उनमें से ४९ प्रार्थियों से वह खूब परिचित है। पचासवें प्रार्थना-पत्र के बारे में उसे किसी का पत्र नहीं मिला। वह किसी सरला नामधारी नारी का है। वह सोचने लगा...

तभी एकाएक सोचना बन्द हो गया। पत्रकार मित्र आगए थे। उन्होंने बहुत-बहुत धन्यवाद दिया, कहा—"अब समझूँ कि पद्मा का लिया जाना निश्चित है ?"

"कैसे कह सकता हूं ?"

"अब भी कुछ कहना है।"

"अभी तो कहना है। पचास को बुलाया है, लेना पांच को है।"

"अरे वह तो दफ्तर का काम है, होता ही है, लेकिन तुम्हें जिनको लेना है उनको लेना है। समझलो तुमने हमारी शादी में यही भेंट दी है।"

आनन्द ठहाका मारकर हंस पड़ा। पत्रकार ने उसमें पूरे दिल से भाग लिया। कहने लगे—"यही होता है, भाई। देखो, अभी शिक्षा विभाग के डायरेक्टर के पास से आ रहा हूं। भतीजे को 'नवीन पाठ-शाला' में दाखिल कराना है। किस किस से नहीं कहा, लेकिन काम नहीं बना। आखिर डायरेक्टर से कहना पड़ा।"

सहसा आनन्द बोला—"हां प्रदीप ! तुमने हमारी योजना पढ़ी ?"

"नहीं तो...।"

"नहीं तो क्यों ? सभी पत्रों को तो भेजी थी।"

"भेजी होगी, किसे अवकाश है। लाओ मुझे दो। कल सभी पत्रों

में उसपर चर्चा मिलेगी।"

आनन्द ने कृतज्ञ होकर योजना प्रदीप को दी। वह गए कि मदन आ गए। वह अपने भाई को इंजीनियरिंग कालेज में भेजना चाहते थे। उसी के लिए सिफारिशी पत्र लिखवा कर लाए थे। मार्ग में आनन्द को धन्यवाद देने रुक गए। उन्हें पूरी आशा है कि जैसे अब तक किया वैसे ही वह आगे भी कुसुम की मदद करेंगे। कुसुम स्वयं भी आई। इसी तरह पुष्पा, नीला, रोज, राजरानी, रजिया आदि या तो स्वयं आई या उनके टेलीफोन आए या अभिभावक आए; पर सरला है कि स्वयं तो क्या आती, किसी ने उसकी ओर से धन्यवाद के दो एक शब्द तक न भेजे।

कौन है यह सरला!

आनन्द ने मुलाकात के दिन ही उसे देखा, देखता रह गया। न रूप न रंग, न प्रसाधन, पर फिर भी जैसे समूचे कमरे में उसकी छाया भर उठी है। प्रत्येक प्रश्न को उसने ध्यान से सुना और विनम्रता से उनके उत्तर दिए। वे उत्तर न किसी पुस्तक में लिखा थे, न किसी से पूछ कर रटे गए थे,। उत्तर की गहराई से निकले नपे-तुले शब्दों से जैसे प्रश्नकर्ता स्वयं उलझ गए। इसलिए जब पचास में से पांच का चुनाव हुआ तो सरला उनमें न थी। आनन्द ने सबसे पहले उसीका नाम चुना था, पर जब मित्रों के पत्र और प्रार्थियों के चेहरे उसके स्मृति-पटल पर उभरने लगे तब उसने पाया सरला का नाम वहां नहीं रह सका है। वह क्या करे। और, वह तो वह; उसके दूसरे साथी भी उससे सहमत हैं। उन्होंने कहा—'सरला की योग्यता में कोई सदेह नहीं, पर हमें जैसी अध्यापिका चाहिए वैसी वह नहीं है। वह गहरी है, पर साथ ही बहुत गम्भीर भी है। योग्य है, पर उसका प्रभाव छा जाने वाला है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके अन्तर में कहीं टीस है, जो उसे खुलने नहीं देती। ऐसी अध्यापिका के हाथ में बच्चियों को सौंपना खतरे से खेलना है।"

इस सर्वसम्मत निर्णय से आनन्द को बड़ी राहत मिली, फिर भी उस रात वह सो न पाया। बहुत देर तक टेलीफोन आते रहे। पांचों प्रार्थियों के अभिभावक उसके अत्यन्त कृतज्ञ थे। उन्हीं के शब्दों में आनन्द ने उन्हें उभार लिया था। वे समझ नहीं पा रहे थे कि कैसे उसका बदला चुकाया जा सकेगा। पद्मा तो भावावेश में ऐसी हो रही थी जैसे अब रोई, तब रोई। और कुसुम सचमुच रो पड़ी। आनन्द भी कम भावुक नहीं है। उसे भी कण्ठावरोध हो आया। आधी रात इसी झमेले में बीत गई तो उसने सोने की चेष्टा की, पर तभी उसे लगा जैसे उसके हृदय में टीस उठ रही है। 'क्या कारण हो सकता है?' उसने सोचा।

उत्तर मिला—'तुमने जो चुनाव किया है वह योग्यता के आधार पर नहीं किया है।'

वह तो सदा ही ऐसा होता है।' और उसने करवट बदलकर आंखें मींच लीं, पर उस अन्धकार में तो सरला की मूर्ति और भी स्पष्ट हो उठी। फिर तो ज्यों ज्यों वह आंखों के द्वार और जोर से बन्द करने का प्रयत्न करता; त्यों त्यों सरला का रंग और भी निखरता चला आता। कुसुम, पद्मा, रोज, नीला, रजिया सब उसकी छाया में ऐसे ही खो जातीं जैसे सूर्य की छाया में तारागण छिप जाते हैं तब घबराकर उसने आंखें खोल दीं। उसे लगा जैसे उसने कोई पाप किया है, जैसे उसने किसी निर्दोष की हत्या कर डाली है...वह फुसफुसाया—"ऐसा तो कभी नहीं होता? मित्रों की बात तो माननी ही पड़ती है। सभी मानते हैं। बच्चे को स्कूल में दाखिल कराना हो, मकान किराये पर लेना हो, पुस्तक कोर्स में लगवानी हो, मुकदमे में न्याय करवाना हो, यहां तक कि किसी प्रमाण-पत्र पर हस्ताक्षर करवाने हों, तो यह सब मित्रों की सिफारिश से ही होता है। आखिर यह मेलजोल, ये मित्र हैं किस दिन के लिए...।"

"पर यह सब बुरा है।"

"जिस काम को सब करते हैं वह बुरा नहीं होता।"

"लेकिन सरला ने नहीं किया।"

"हां, सरला ने नहीं किया। क्यों नहीं किया ? वह एक बार भी मेरे पास आती तो क्या उसे नौकरी न मिलती! वह कितनी योग्य है, कितनी शांत-सौम्य !...लेकिन वह आई क्यों नहीं ? क्यों उसने अभिमान को अपने ऊपर हावी होने दिया ? क्यों...क्यों...?"

"और जब उसने अभिमान किया तो भुगते। मुझे क्यों परेशान करती है ?

और आनन्द ने फिर नेत्र मूंदकर सरला से मुक्ति पानी चाही, पर सरला ने उसे पकड़ा कहां था जो मुक्ति मिलती ! वह तो स्वयं उसकी उपचेतना थी जो उसमे छल कर रही थी। इसलिए वह रात भर लुका-छिपी का खेल खेलता रहा। सबेरे उठा तो अंग-अंग दर्द कर रहा था। उसने किसी से कुछ नहीं कहा। चुपचाप घूमने के लिए निकल पड़ा। कुछ देर चलने के बाद उसने अपने आपको वहां पाया, जहां एक ओर पंचमंजली आलीशान इमारतें खड़ी थीं और दूसरी ओर, ठीक उनके पीछे वे गन्दे और बदबूदार अस्तबल थे, जिनमें आजकल घोड़ों के स्थान पर सभ्य इन्सान रहते थे।

देखकर आनन्द का मन भर आया। लोग उसी गन्दी और पानी से भरी सड़क पर सो रहे थे। कुछ खाट पर थे, कुछ ठेलों पर। एक बुढ़िया अपने जैसी ही एक आराम कुरसी पर सोने का नाट्य कर रही थी। कुछ युवक सूखी जमीन पर एक-दूसरे में उलझे पड़े थे। न बिछावन, न ओढ़ना, शरीर पर भी दूसरा वस्त्र नहीं। पास में ही गाय-भैंस और घोड़े पिछले दिन की थकान उतार रहे थे। उनसे बचता हुआ वह एक अस्तबल के सामने आ खड़ा हुआ। यही सरला का पता था..........।

सामने देखा किवाड़ खुले है और अन्दर का सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे रहा है। कोई कमरा नहीं, परदा तक नहीं; पर जो है उसमें नियम

है। सामान संक्षिप्त है, पर व्यवस्थित है। बीच में एक खाट बिछी है, जिसपर एक पुरुष लेटा है। शायद पति है। उसी के पास फरश पर सरला बैठी है। उसका एक हाथ पति के वक्ष पर है दूसरा एक शिशु की पीठ पर जो अपने तीन भाई-बहनों के साथ मां के पास धरती पर लेटा है।

आनन्द का मन और भींग। वह खोया-खोया सा आगे बढ़ा तभी उसे लगा जैसे वे लोग बातें कर रहे हैं। वह ठिठक कर पीछे हट गया। एक क्षण बाद पुरुष का निराशा से कांपता हुआ स्वर उसके कानों में पड़ा।

"तो यह स्थान भी नहीं मिला ?"

सरला बोली—"नहीं, नहीं मिला। आशा भी नहीं है।"

पुरुष ने जैसे पूरी बात नहीं सुनी, कहा—"मैंने पहले ही कहा था, पर तुम सुनो तब न ! बिना सिफारिस क्या कहीं कुछ होता है ?"

सरला बोली—"जानती हूं, पर हमारा ऐसा कौन परिचित है जिसका प्रभाम उन पर पड़ सकता। अब तो एक ही काम हो सकता है।"

पुरुष ने उठते हुए पूछा "कौन-सा काम ?"

इस बार आनन्द ने दृष्टि चुराकर फिर भीतर झांका। देखा पुरुष के मुख पर प्रभु की करुणा बरस रही है, नेत्र ऊपर को उठे हैं। वह कांप उठा—ओह, यह तो नेत्रहीन है·········।

पुरुष फिर बोला—"तुम क्या करने को कहती हो ?"

सरला दो क्षण चुपचाप बैठी रही। तेजी से बेटे की पीठ पर हाथ फेरती रही। उत्तर न पाकर पुरुष ने अपने हाथ से सरला का मुंह टटोलना शुरू किया, टटोलता रहा फिर फुसफुसाकर कहा—"कहो, क्या करने को कहती हो, मैं बुरा न मानूंगा।"

सरला के गले में बाक रुकी थी। सहसा पति के मुंह की ओर मुंह उठाकर वह बोली—"कहती थी अब चिट्ठी से काम न चलेगा।"

'लो।"

....

"बोलो सरला, बोलो।"

"मुझे शरीर का सौदा करने की आज्ञा दो। बोलो दोगे......?

निमिष मात्र में यह भूकम्प-जैसा स्वर आनन्द के कानों से होकर त्रिलोक में व्याप्त हो गया और जब टूटे हुए ग्रह की तरह वह वहां से भागा तब गन्दे पानी के छींटों से विशाल अट्टालिकाओं की दीवार गंदी हो गई तथा धरती पर सोये हुये स्त्री-पुरुष चीखकर उठ बैठे।

श्री अवारा

घर

बरखा की रुत, भीगी हवाएं, सबेरे-सबेरे बस्ती के बाहर वाली कच्ची सड़क पर दो राही बातें करते चले जा रहे हैं।

एक—बस तो हमने सोचा कि अब बना ही डालें।

दूसरा—बहुत ठीक सोचे, बड़ी दूर की कौड़ी लाए।

एक—फिर हमने कहा, लाओ भाई चूनन से भी पूछ लें। देखें, वह क्या कहते हैं।

चूनन—मैं क्या कहूंगा हकीम जी, हां में हां मिलाऊंगा।

हकीम—तो है राय ?

चूनन—पक्की।

हकीम—सोची समझी ?

चूनन—अजी रुपए में साढ़े सोलह आने।

हकीम—फिर न कहना, 'हकीम जी, ईंट-चून में कहां रुपया झोंक दिया।

चूनन—यह उल्टी गंगा, और मैं बहाऊंगा !

हकीम—हां, यह कहने का न हो कि सदा के यार, एक जगह रहे-सहे अब मरने को बैठे, तो जंगल में बसे।

चूनन—हकीम जी, घर बना लो तब बात करूंगा। मैं तुम्हें कब छोड़ता हूं।

हकीम—बस, तो आओ भई जरा बैठ लें। (दोनों बैठते हैं) जरा अपनी छड़ी देना भई, सोचा यह है कि (जमीन पर छड़ी से निशान डालते हुए) जैसे यह रहा जमीन का टुकड़ा···यह पूरब में बुद्धसैन की अमराई है।

चूनन—चलिए, जानता हूं।

हकीम—और देखो भई, पश्चिम में······

चूनन—पटवाताल भरता है, बड़ी मुरगाबी गिरती है जाड़ों में।

हकीम—और देखो, दक्खिन में बरसाती नाला है और उत्तर में कई बीघे खाली जमीन है जिस पर······

चनन—अभी कुछ न बनाना।

हकीम—चलिए, नहीं बनाते। अच्छा यह तो हो गई चार-दीवारी। अब भीतर आओ।

चूनन—आगए, यह पूरब रूख दरवाजा रक्खा है न?

हकीम—हां, अब तो भीतर देखो—यह चबूतरा रहा दालान के पीछे, ये अगल-बगल कमरे।

चूनन—चले चलिऐ, रुक क्यों गए। ठीक बन रहा है, जाड़े गर्मी का तो यह इन्तजाम हो लिया, अब रही······

हकीम—बरसात। तो भई, बरसात में छत पर खपरैल में सोया करेंगे।

चूनन—ठीक है। मच्छर-पिस्सू से बचे रहिएगा। हल्की-हल्की पछवा, छम-छम बूंदें, दूर-दूर बिजली के कौंधे। हकीम जी, घर नहीं बहिश्त बना रहे हो, बहिश्त!

हकीम—अच्छा. चबूतरे से उतरे तो देखो यह रहा बावर्चीखाना, और यह इससे मिली हुई नाजपानीकी कोठरी और इन्धन-लकड़ी की बुखारी और··और यह···यह बड़े दरवाजे से लगी हुई बैठक, आप उठें-बैठें, महमान ठहर जाएं, और जब चाहो पिछले किवाड़ बन्द कर दो, मरदाने का जनाना हो जाए। कहो भाई क्या कहते हो?

चूनन—कहूं हकीम जी, आपने घर बनाया, तो भाई हमने भी बना डाला, चलो, यहीं सही। खाली जमीन का आज ही बयाना दिया। कल रजिस्ट्री कराई और परसों तुम्हारे पड़ौस में नींम खुदी।

हकीम—चूनन, होश की बातें करो, क्या सचमुच ?

चूनन (हंस कर)—अजी तो आप से कुछ दब कर हैं। यह घर तो अब बनेगा।

हकीम—यों नहीं चूनन, यह लो अपनी छड़ी, घर की दागबेल डाल चलो, हमारी उत्तरी दीवार तुम्हें खूब मिली।

चूनन—हां, देखो तो क्या डोल डालता हूं। (छड़ी से निशान डालते हुए) देखो, ये दीवारें हुईं, यह तीन दर का दालान और ये आस-पास कमरे हमारे. आदमी ही कितने हैं। लड़का है, उसकी बहू है; उन दोनों के लिए बहुत हैं। बड़ा सा आंगन रखूंगा। यह इधर फसल की तरकारी बो ली और एक-आध नींबू का दरक्त लगा लिया। और हां, तुम जो भूले हकीम जी, वह इस घर में होगा, यह देखो पक्का कुंआ।

हकीम (हंस कर): उल्लू ही समझा किए तुम हमें। अरे भैया, मेरा नक्शा देखो, यह रहा २१ हाथ का तली-तोड़ कुंआं।

चूनन—ठीक कहा जी। बस, तो आ जाओ फिर मेरे नक्शे पर, गरमी-बरसात लड़का-बहू कोठे पर सोया करेंगे। बरसाती बना दूंगा।

हकीम—वह किस रुख ? बरसात का पानी किस रुख बहेगा।

चूनन—उधर उत्तर को और क्या ?

हकीम—यानी मेरी छत पर !

चूनन—हमारे परनाले गिरेंगे।

हकीम—यह तो न होगा।

चूनन—और कहीं गिर नहीं सकते।

हकीम—गिरें, न गिरें, अपनी बला से। मेरी छत पर नहीं गिर सकते। कानून खुला हुआ है।

चूनन—कानून-पानून अपने घर में बघारिए हकीम जी ये चूनन के

परनाले हैं । अब तो बन चुके और उत्तर ही को गिरेंगे ।

हकीम—मैं नालिश ठोंक दूंगा, तामीर रुकवा दूंगा, अदालत को मौका दिखा दूंगा ।

चूनन—ठीक है, मगर ये सब पीछे की बाते हैं । पहले यह घर बनेगा । इस में बरसाती बनेगी । बरसाती के परनाले उत्तर वाली छत पर ही गिरेंगे । कर लीजिए क्या करते हैं ।

हकीम—मैं तुम्हें कैद करा सकता हूं । यह जमीन ही नहीं खरीदने दूंगा । इसे खरीदने का हक मुझी को है ।

चूनन—कर के देखाना ! हार जाऊंगा तो अपील लडूंगा । वहाँ भी हारूंगा तो सुप्रीमकोर्ट तक जाऊंगा । परनाले तो हकीम जी वहीं गिरेंगे, जहां चूनन के मुँह से निकला हैं ।

हकीम · चूनन के मुंह से निकला, तो झक मारा चूनन ने ।

चूनन—हकीम जी कपड़ों से न निकालिएगा, हां देखिऐ ।

हकीम—नहीं तो ?

चूनन—बना-बनाया घर बिगाड़ दूंगा ।

हकीम—तुम । (हंस कर) वह कैसे ?

चूनन—ऐसे······(पांव से जमीन रगड़ कर) यह लो अपना घर । और यह मिटा तो, मेरा घर कहां !

हकीम—जाहिल आदमी, यह क्या किया ?

चूनन—हकीम जी, न जानें हम तुम कहां थे इस वक्त ! यह जमीन तो म्युनिसिपैल्टी की हैं ।

दोनों पिनकी थे ।

श्री हृदयनारायण मेहरोत्रा 'हृदयेश'

परदे की दीवार

मिस्त्री मुंशी बख्तावरलाल की ओर आश्चर्य से घूरता हुआ कह रहा था..."भला यह दीवार कहीं टेक लगाने से खड़ी रह सकती है ? आप ही देखिए न कितनी लम्बी-लम्बी दरारें बन गई हैं। बाँयी ओर तो इतनी कमज़ोर है कि ज़रा-सा धक्का लगा नहीं कि गिर पड़ेगी। आप इसे उतरवा कर दूसरी बनवाइए, वरना यह गिर कर मकान के दूसरे हिस्से को भी दाब लेगी।"

"नहीं, इतनी कमजोर तो नहीं है कि एक बरसात भी न झेल सके। पुरानी हड्डियों में बड़ी ताकत होती है मिस्त्री जी !" यह कह कर मुंशी जी खोखला ठहाका लगा कर हंस दिए थे। खोखला इसलिए था वह, क्यों कि वह कृत्रिम था, स्वतः न फूटा था। वह भी जानते थे कि दीवार वास्तव में कमजोर और गिराऊ हो गई है और उसे उतरवा देना ही ठीक होगा। पर केवल उतरवा देने से काम चल नहीं सकता था। परदे की दीवार थी वह। उस के स्थान पर तो उसी समय दूसरी उठ कर खड़ी हो जाना चाहिए, नहीं तो घर की बेपरदगी होती थी। और इस उतरवाने-बनवाने का अर्थ था कि पास में कम से कम चार-सौ रुपया हो। किन्तु इस समय वह पच्चीस रुपए का भी प्रबन्ध नहीं कर सकते थे। उन की हालत खस्ता थी। पर बाहर वाले तो ऐसा नहीं समझते थे उन्हें, और न वैसा समझाने की उन्हों ने कभी

कोशिश ही की थी।

मिस्त्री दीवार के निकट आकर उसका निरीक्षण करने लगा था। मुँशी जी भी निकट चले गए। वह कहते रहे—'बस, मैं चाहता हूं सिर्फ यह बरसात कट जाए। फिर तो इसे मैं उतरवा कर दूसरी बनवा लूँगा। बरसात के दिनों में नए काम में हाथ लगाना जरा ठीक नहीं रहता।"

इसी समय मिस्त्री के थपथपाने से एक स्थान से थोड़ी मिट्टी और दो-एक ककैइयाँ ईंटे खिसक कर गिर पड़ीं। उस का अविश्वास और बढ़ गया – "देखा आप ने ? कितनी कमजोर है। एक पानी भी झेल सकना मुश्किल है।"

"हाँ, कमजोर तो है ही, पर टेक लगाने से मजबूत हो जाएगी। तुम दो-तीन अच्छी टेकें लगा दो, बस।"

"आप मालिक है, जो हुक्म दें। लाइए सामान दीजिए।"

मुंशी जी ने कोठरी से दो-तीन बल्लियाँ निकाल कर दे दीं।

वह परदे की दीवार वास्तविक अर्थ में परदे की दीवार थी। घर की वास्तविकता पर वह सदैव परदा डाले रहती। उसकी आड़ में मुँशी जी दिन भर एक फटा-गंदा अंगौछा लपेटे रहते, उनके दोनों पुत्र पुत्रियाँ, बहुयें फटे चीकट वस्त्र धारण किए रहतीं। नए-पुराने बानों से से बिनी आँगन में खड़ी जर्जर चारपाइयाँ, सहन में रखे बदबूदार बिछौने, इधर-उधर बिखरा टूटा-फूटा गृहस्थी का अन्य सामान इसी की ओट में छिप जाते। इसी के पीछे चौका-बर्तन से ले कर नाली की कीचड़ निकालने तक के गंदे-निकृष्ट काम किए जाते। इसी के पीछे बाहर पहने जाने वाले वस्त्र धोए जा कर उन पर फूलके लोटे से इस्त्री की जाती है और बाहर के किसी व्यक्ति को कानो-कान खबर तक न होती। यह दीवार अभाव के कारण दिन-रात बहुओं के बीच होने वाले कलह पर भी परदा डालती। गाली-गलौजों की भद्दी आवाजें बहुत-कुछ इसी से टकरा कर अन्दर रह जातीं। और इस कलह को शांत करने के लिए

पुत्र मार-तोड़ के जो उपाय और मुंशी जी छाती पीटने, पृथ्वी पर सिर दे मारने तथा कुंए में फाँद पड़ने के जो स्वाँग किया करते उस पर भी यह परदा डाल कर सड़क पर चलने वाले राहगीरों तथा पड़ोसियों को उन का दर्शक न बनने देती। वस्तुत: यह परदे की दीवार उन की मर्यादा की दीवार थी। इस में टेक लगा कर उन्होंने अपनी कमजोर मर्यादा में टेक लगा ली थी।

मिस्त्री के जाते ही मुँशी जी अपनी कोठरी में चले गए और धोती तथा बंडी उतार कर उन्होंने गंदा-फटा लाल अंगोछा धारण कर लिया। अन्नतर वह एक-एक कर उस सामान को निकाल निर्धारित स्थानों पर रखने लगे, जो उन्होंने मिस्त्री को बुलाने के पहले छिपा दिए थे तभी उन्हे सुनाई पड़ा—"चुड़ैल, खसम दो पैसे क्या कमाने लगा इतराकर चलती है। छोटी होकर मुझ पर हुक्म चलाएगी ?"

हां, चलाऊंगी—चलाऊंगी। खिलाती नहीं हूं ; सुनलो, एक वक्त चूल्हा तुझे भी फूंकना होगा।"

"*जरा तो शर्म कर डाइन-अभी तक मेरा ही खाकर पली है।* घबड़ाओ नहीं, दो चार दिन में उनकी छूटी नौकरी लग जाएगी। ओफ ओ खसम के साठ रुपल्ली पर इतनें जोर ! यह कैसी जल्दी भूलगई कि देवर को हमीं नें पढ़ाया है।"

"तो ताने भी तो बहुत मारे, सब जानती हूं। आप तो अच्छा खाती और चमकती थी और उन्हें सड़ा-गला फटा-पुराना देती थी। मुझे खूब पता है। अब मैं अपने बच्चों का करती हूं तो तुझे क्यों फ़टी आंखों नहीं सुहाता, तू क्यों जलती है?"

"चुड़ैल—।"

"चुड़ैल तू डाइन तू, राक्षसनी तू!"

अब तक मुँशी जी आंगन में पहुंच गए थे जहां दोनों बहुएं चंडी का रूप धारण किए लड़ रहीं थीं। भिभयाती आवाज में वह गरजे—"यह क्या तमाशा बना रखा है ? यह घर है या सराय ?"

"बापू, मुझे अलग कर दो। मैं भीख माँग लूंगी पर इस चुड़ैल के साथ नहीं रहूँगी। दिन-रात सुना-सुना कर ताने मारती रहती है।" बड़ी बहू रो दी।

"तो मैं कब तेरे साथ रहना चाहती हूँ।" छोटी बहू ने मुँह चिढ़ाया—"मुझे रोज-रोज क्या कुत्तियों से मांस चुनवाना पसंद है।

बड़ी बहू की क्रोध से बतीसी भिंच गई। चीखी—

"छिनाल !"

"हरजाई!" वैसा ही तीखा उत्तर आया।

दोनों को ऐसे चुपते न देख कर मुंशी जी ने हुमक्कर सीने पर दो घूँसे मारे और आँगन में चारों खाने चित्त गिर पड़े। रो कर बोले— "लो खूब लड़ो। मेरी लाश पर लड़ो। मैं मरूं तो रोना मत, कसम है लड़ती रहना। हाय, बुढ़ापे में मेरी बनी बनाई इज्जत धूल में मिल गई। और यह कहते हुए वह पलट कर ताबड़-तोड़ पृथ्वी पर सिर दे मारने लगे।

इस क्रिया का शीघ्र ही प्रभाव पड़ा। बड़ी बहू बड़बड़ाती हुई अपनी कोठरी में चली गई। छोटी बहू भी बड़ी को गाली सुनाती वहाँ से खिसक गई। उन दोनों के जाते ही मुंशी जी भी उठ कर अपनी कोठरी में चले आए।

चले तो वह आये किंतु उनका हृदय कड़वाहट से भर गया था। नस-नस में वेदना दौड़ गई थीं। उन का स्वभाव कुछ ऐसा हो गया था कि जब कोई उन से अलग होने या बटवारा करने की बात करता तो उन के हृदय पर हथौड़े चलने लगते। यही बात उन्हें सब से अधिक अप्रिय लगती। और इधर कुछ दिनों से वही अधिक उठ रही थी।

अलग होने का दुष्परिणाम मुंशी जी से अधिक कौन समझ सकता था? एक पुत्र अलग हुआ नहीं, फिर दूसरा भी हो जाएगा। घर की वास्तविकता, जो अभी तक ढकी थी, फिर उसे खुलते कितनी देर लगेगी? अभी उन्हें अपनी दो जवान लड़कियों की शादी करनी थी।

पेंशन के सरकार से पन्द्रह रुपये मिलते थे उनसे उनकी शादी करना तो दूर, इस मंहगी मे वह अपना और उनका पेट भी न भर सकते थे। अलग होने पर कहीं कोई किसी की मदद करता है ? सब अपना अपना देखते हैं। फिर घर के इस एके से कस्बे में जो उनकी इज्जत थी, वह भी धूल में मिल जाएगी। रात को भोजन से निबट, जब वह पंडित रामखिलावन के चबूतरे पर मोहल्ले के अन्य बुजुर्गों के साथ बैठते तो रामदीन कहता—'मुँशी जी तुम बड़े भाग्यवान हो, जो तुम्हारे घर में एका है। आजकल लड़कों की शादी हुई, कि अपना घरुआ-चरुआ अलग करते हैं।"

मुँशी जी सीना फुलाकर उत्तर देते—"यह सब आप लोगों और भगवान की असीम दया है।" फिर रुक कर मुस्करा देते। कहते—"मैंने तो बचपन से ही अपने लड़कों को यह शिक्षा दी कि आपस में प्रेम से रहो। आप देखते ही है कि आज उनमें राम और भरत जैसा प्रेम है। उनका जैसा प्रेम इस कस्बे में तो आपको देखने को मिलेगा नहीं।"

तब ठाकुर सुजानसिंह बोल उठते—मैं तो कहूँ मुँशी जी यह लुगाइयाँ अगर फ़ूट के बीज न बोएं तो भाई-भाई में आपस में बैर हो ही नहीं। उनमें बैर कराने की जड़ ये लुगाइयाँ ही होती हैं।"

इस पर अन्य लोग हां में हां मिलकर एक-दो उदाहरण सुनाने लगते। किन्तु मुँशी जी भावना में बहकर अपनी बहुओं की बुराई नहीं करते। वह बड़ी चालाकी से उनकी बात दबाकर कहते—'ठाकुर साहब, वैसे कहते तो आप ठीक हैं, पर अगर लड़के ठीक हों तो लुगाइयाँ कुछ नहीं कर सकतीं। रहीम दास ने कहा ही है—

"जो रहीम उत्तम प्रकृति, का कर सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग॥"

उचित अवसर पा कर पंडित राम खिलावन इसी समय वार्तालाप को एक नया मोड़ दे देते। वह दार्शनिक स्वर में कहने लगते—'प्रेम

में जितने गुण हैं, फूट में उतने ही दोष हैं। तभी तो हमारे ऋषि-मुनियों ने प्रेम का इतना महातम बखाना है। सन का एक-एक तार मिलकर रस्सी बनती है। एक-एक मिलकर ग्यारह होते हैं। दूर क्यों जाओ, मुँशी जी को ही लो। आज जो इनके पास चार-पैसे और इतनी जायदाद है वह इसी प्रेम की बदौलत है। अगर किसी कारण आज उसका हिस्सा-बाँट हो जाय, तो इनकी क्या ऐसी दशा रहेगी ?"

इस बातचीत का एक-एक शब्द मुँशी जी की आत्मा को गुद-गुदा देता उनके रोम-रोम में प्रसन्नता व्याप जाती। उनका चेहरा खिल उठता, आँखें चमक जाती और सीना उभर आता।

कोठरी की देहलीज पर बैठे शून्य दृष्टि से शून्य आकाश को ताकते मुँशी जी निश्चय करते कि जैसे भी होगा वह अपने जीते-जी पूर्वजों की सम्पित्ति बंटने न देंगे। इसी में उनकी इज्जत है। अपने इस निश्चय को सफल बनाने में उन्हें पुत्रों से पूर्ण सहयोग मिलने की आशा थी। वे अब भी पितृ-भक्ति और आज्ञाकारिता की प्रतिमूर्ति थे।

× × ×

इस बार घर में पूर्व की अपेक्षा कुछ अधिक दिनों तक शान्ति रही—यहाँ तक कि बहुओं में छोटी-मोटी तकरारें भी नहीं हुई। इस शान्ति से मुंशजी प्रसन्न थे उन्हें विश्वास हो गया था कि पुत्रों ने बहुओं को प्रेम और एके का महत्व समझा दिया है और वह भलीभाँति समझ भी गई हैं। किन्तु दो-एक दिन बाद उन्हें अपनी त्रुटि का ज्ञान हुआ। यह शान्ति समुद्र की उस शान्ति जैसी सिद्ध हुई, जो अपने भीतर एक भयंकर तूफान छिपाए रहती है।

संध्या का समय था। आसमान पर काले बादल घिरे थे मुँशी जी आँगन में चारपाई पर बैठे छोटे पुत्र से बड़े पुत्र की नौकरी के बारे में परामर्श कर रहे थे। बड़ा पुत्र सुबह से नौकरी की दौड़-धूप में गया अभी लौटा न था। इसी समय छोटी बहू तेजी से वहाँ आकर बोली—
"मैं अब इस घर में एक मिनट नहीं टिक सकती। मेरे पैसे चोरी होने

लगे हैं। यह सब उसी की करतूत है।"

'उसी' का अर्थ चौके में बैठी बड़ी बहू समझ गई थी। वह भी गरजती हुई वहां आ धमकी—"देखो जबान सम्हाल कर कहा करो।"

"जबान सम्हाल कर क्या ? तूने चुराए नहीं ?"

"चुप चुड़ैल ! झूठ बोलती है। झूठ बोलते, हाय तेरी जबान भी कट कर नहीं गिरती। मैं कसम खा सकती हूँ, जो तेरे पैसे देखे भी हों।"

शायद कहीं रखकर भूल गई हो। जाओ, ठीक से देखो।" बात के अधिक बढ़ जाने के भय से छोटे पुत्र ने पत्नी को समझाया।

"हाँ हाँ मैं तो भुलक्कड़ हूँ, मैं तो पगली हूँ। मेरे तो कुत्ते ने काटा है जो बेकार किसी को दोष लगाती हूँ। कान खोलकर सुन लो, अब मैं इस घर में एक मिनट भी नहीं रहूँगी। आज मेरे पैसे गए हैं, कल रुपये जायंगे और परसों दूसरी चीज, और तुम कहोगे कि मैं कहीं रखकर भूल आई।"

अब मुंशी जी भी चुप न रह सके। बोले—"सब समझता हूँ। मैं मूर्ख नहीं हूँ। अलग होने के लिए ही रोज-रोज यह सब झूठे-मूठे बखेड़े उठाए जाते हैं।"

"हाँ, तुम तो ऐसा कहोगे ही।" छोटी बहू उबल पड़ी—"तुम्हें तो एक में मिलाए रहने में फायदा है। बैठे-बैठे लड़कों की कमाई की मुफ्त की रोटियाँ.. ...।"

"चुप ससुरी ! बापू से जवाब-सवाल करती है ?" छोटा पुत्र बीच ही में गरज पड़ा। वह क्रोध से काँप रहा था। उसके सामने उसी की पत्नी, उसके बापू का अपमान करे ! उसने हुमक कर पत्नी पर लात चला दी।

लात पूरे वेग से कूल्हे पर बैठी थी। पत्नी लड़खड़ा कर गिर पड़ी। उसको गिरते देखकर बड़ी बहू अपनी मुस्कराहट न रोक सकी। छोटी के तन-बदन में आग लग गई। वह गर्ज उठी—"छिनाल, हंसती है।

सब समझती हूँ। तुम सब ने मुझे मार डालने की सोची है। तुम सब के मुँह पर कालिख पुतवा दूंगी।"

इस गर्जन के सम्मुख बड़ी बहू खिसक गई। किन्तु पति का पारा और अधिक चढ़ गया। वह क्रोध में जैसे पागल हो गया। तावड़-तोड़ लात-घूंसे चलाने लगा—"ससुरी, बाहरवालों को सुनानी है! चुड़ैल का गला घोंट दूँगा चुपी नहीं।"

पर चुपने के स्थान पर उसका स्वर और भी ऊँचा हो उठा—"मुझे मार डालो, पर चुपूगी नहीं। मैं तुम लोगों के मुँह पर कालिख पुतवा कर रहूँगी हां।—हाँ-हाँ, मारो खूब मारो! हाय, मार डाला...मार डला! वह बेतहाशा चीखने लगी।

इस चिल्लाहट के सम्मुख पहले तो पति घबड़ा गया। समझ में न आया क्या करें। किन्तु दूसरे ही क्षण उसने हथेली से पत्नी का मुंह दबा दिया और घसीटता हुआ उसे सब से अन्दर वाली कोठरी में खींच ले गया। वहाँ अंदर ढकेल कर उसनें बाहर से किवाड़ बंद कर दिए।

चिल्लाहट धीमी होकर खामोश पड़ गई थी। केवल नागिन जैसी फुफकार सुनाई देती थी।

आंगन में खड़े मुँशीजी की आँखें गीली हो गईं। उनकी वेदना आज सीमा तोड़ चली थी। बहू की आवाज दीवार लाँघ कर बाहर निकल गई थी, जिसके फलस्वरूपसड़क पर राहगीरों और मोहल्लेवालों में फुसफुस हो रही थी। उनकी इस वेदना से द्रवित होकर ही जैसे उस समय बादल भी गीला हो गया। टप-टप कर बड़ी-बड़ीबूंदें धुंआधार पड़ने लगीं।

उधर कोठरी के कड़े से बँधी धोती के फंदे में जैसे ही छोटी बहू ने गर्दन डाली, वैसे ही बाहर खड़ी परदे की दीवार, टेकों की अवहेलना कर, अररररा कर गिर पड़ी।

सत्यदेव शर्मा

बुद्धी

मुन्शीराम का रंग इतना काला था, कि लोग प्रय: यही कहा करते, आबनूस और तवा भी उससे पनाह माँगते हैं। उनके हिस्से की सियाही भी उसने छीन ली है। कई-कई तो यहां तक भी कह जाते कि विधाता ब्रह्मा सृष्टि रच कर उसका लेखा लिख रहे थे, तो उनकी लेखनी में सियाही बहुत आ गयी, गाढ़ी थी, उन्होंने कलम जो छिटकी, तो सियाही से मुँशीराम बन गया। इसीलिए उसकी बुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी, *क्योंकि सियाही विधाता की लेखनी से आई थी। काला अक्षर भैंस* बराबर होता तो भी कोई बात थी, पर उसके लिए तो काला अक्षर बत्तख सा ही था। क्योंकि भैंस भी काली और अक्षर भी काले, वह काले अक्षरों में भी जो सफेदी बच जाती है उसे ही समझता था, बाकी सब काली-काली च्युँटियां जो सफेद जमीन पर चली जा रही हों। इस पर भी उसकी तीक्ष्ण बुद्धि पर उसे ही नहीं सबको नाज था। गांव वालों का यह विचार जाने कहां तक ठीक है, कि भगवान ने अच्छा किया, कि मुँशीराम पढ़ा लिखा नहीं था। जैसे उसे न पढ़ने देने में भी भगवान ही का हाथ था। क्योंकि यदि वह पढ़ा लिखा होता, तो आकाश कुसुम तोड़ लाता, आसमान में छेद कर देता, और आसमान सदा के लिए रोता रहता। सो अच्छा ही हुआ, बेपढ़ा होने पर भी जब उसका यह हाल है कि स्टेशन का बाबू, डाकखाने का पोस्टमास्टर,

हस्पताल का डाक्टर गांव का जैलदार, शहर का कोतवाल, हलके का पटवारी, और तहसीलदार, कचहरी का पेशकार सब उसकी मुट्ठी में बन्द हैं। जो चाहता है, करवा लेता है; और यदि पढ़ा होता तो··· बस इसके आगे गांव वालों की कल्पना काम न देती थी। वह भय से हाथ जोड़कर भगवान की इस अलक्ष्य कृपा के प्रति धन्यवाद प्रर्शन कर देते थे।

इन सब गुणों के साथ मुंशीराम में एक और गुण कह लीलिए या अवगुण भी था, वह बच्चों को चिढ़ाया करता, वे खीझ उठते, उसे चिढ़ाते, और वह खुश होता। शायद वह बचपन में, बच्चों द्वारा हुई अपनी उपेक्षा का बदला बच्चों को तंग कर के चुकाना चाहता था।

वह गांव वालों के काम भी कम न आता था। किसी को मुकदमा लड़ना हो, डिप्टी को अर्जी देनी हो, किसी की जायदाद रहन, बै, करानी हो, डाकखाने में तार देना हो, स्टेशन पर माल बुक कराना हो, अस्पताल में मरीज को दिखाना हो, उसकी सब सहायता लेते थे और लोगों की यही छोटी-मोटी निःस्वार्थ सेवाओं से कुछ ही वर्षों में उसने नया मकान खड़ा कर लिया, अपनी शादी कर ली, बच्चे भी हुए, और देखते ही देखते बच्चे जवान हो गये। उसकी लड़की की शादी धूम धाम से हुई। अब के उसने बड़े लड़के को सरकारी नौकरी में भरती करवा दिया और नौकरी लगे अभी जुम्मा-जुम्मा आठ दिन भी न हुए होंगे कि उसकी शादी भी कर दी। कमाल है और वह कभी किसी काम में नहीं पिटा। हर जगह कामयाब। हर काम में सफल, और उस दिन उसकी गोट पिट गई। पिटी भी तो अपने लड़के के हाथों। है न कमाल पर कमाल। उस दिन मुँशीराम के रंग-ढंग कुछ और ही थे, गांव वाले हैरान थे कि आज बुल्ली को क्या हो गया।

क्षमा कीजिए, असली बात तो बताना मैं भूल ही चला था, मुँशीराम को लोग उसके नाम से कम जानते थे, बुल्ली कह कर ही पुकारते थे। यदि किसी ने पूछ लिया भई कौन बुल्ली ? तो कह दिया मुंशी-

बुली ।

इस बुल्ली नामकरण का इतिहास तो निश्चित काल, तिथि, मास, दिन, वार, तो बहुत खोजने पर भी नहीं मिल सका। हां, इतना जरूर पता लगा है कि बचपन में जब वह नंग धड़ंग फिरा करता था तो बच्चे डर कर भाग जाते थे। उसके साथ कोई न खेलता, वह कुत्तों के छोटे-छोटे पिल्लों के साथ खेला करता और उन्हें मुंह चिढ़ाता, तंग करता। काले कुत्ते से उसे बहुत चिढ़ थी। सफेद और भूरे-रंग के पिल्लों से विशेष लगावट। अब जब वह भी बड़ा होने लगा तो उसके साथ-साथ पिल्ले भी बढ़ने लगे। वह मर्द बनता गया और वे पिल्लों से कुत्ते। आपस में खूब छनती थी। कोई बड़ा पिल्ला उसी समय उसकी शरारत से तंग आकर गुर्राता और धमकाता, तो मुन्शीराम भी वैसी ही सूरत बना कर उसे डराता। उस समय यही प्रतीत होता जैसे काल और सफेद दो पिल्ले लड़ रहे हों। एक दिन मुंशीराम के चाचा ने, क्योंकि पिता तो उसके थे नहीं, उसे देखा तो झिड़का, 'अबे सुअर, तू आदमी है कि कुत्ता। क्या बुल्ली की सी सूरत बना ली है। चल हट यहां से······

वह दिन सो आज का दिन, मुँशीराम बढ़ा हो चला, दम तो जवानों के से थे, पर रहा बुल्ली ही।

बुल्ली उस दिन, दिन के चढ़ते ही उदास दिखायी दे रहा था, लोग सोच रहे थे किस की आई है ? बुल्ली का काला रूप जब अपनी चमक पर आ जाता था तो लोग भयभीत हो जाते थे। आज सुबह से उसे अपनी दुकान से उठते नहीं देखा था किसी ने। दुकान भी क्या थी, बस बैठने भर के लिए बैठक, जहाँ उसके मिलने-जुलने वाले आ बैठते थे, और फिर हुक्केबाजी और गप्पबाजी होती रहती थी।

आज मुंशी ने पंचम स्वर में अपने लड़के को आवाज भी न दी था वरना उसकी तीखी कड़कती लम्बा आवाज, "मेरा हुक्का दे जाओ दुन्नी)" जहां किसी को चौका देती थीं, किसी को डरा देती थी, किसी को सजग

कर देती थी और कई उसे सुनकर खुल कर हंस भी देते थे। और यह नित्य का क्रम लोगों के जीवन में रचपच गया था। आज वह आवाज न सुनकर हर कोई चिन्तित सा हो गया था। इस घटना पर अभी गली बाजार मे टीका टिप्पणी हो रही थी कि बुल्ली तीर की तरह दुकान से निकला, उसके हाथ में एक बड़ा-सा पत्थर था, वह बाजार में से होता हुआ शायद घर की तरफ भागा जा रहा था और जोर-जोर से चिल्ला रहा था "मैं अपना सिर फोड़ लूंगा, गाड़ी के नीचे सिर दे दूंगा, अभी जाऊंगा, अभी। बाहर बजने में कुछ मिनट बाकी हैं। अभी गाड़ी आई नहीं है। मुझे कोई नहीं रोक सकता।" यही नहीं, इस तरह की और भी बहुत सी बातें बकता वह सहेलाराम की दुकान के सामने पहुंचा, तो सहेलाराम ने उठ कर उसे पकड़ लिया।

"यह क्या पागलपन है ? बुल्ली ! होश में आओ। धीरज से काम लो। इतने में दो चार आदमी पास पड़ौस के और कुछ बच्चे भी आकर खड़े हो गये। सहेलाराम का बुल्ली से खूब मेल था। एक दूसरे से मन की बात कह-सुन लिया करते थे। सहेलाराम, बुल्ली के कष्ट का कारण अच्छी तरह जानता था। दूसरे भी थोड़ा बहुत समझते थे, फिर भी किसी को यह आशा न थी कि बात यहाँ तक बढ़ जायेगी।

सहेलाराम ने बुल्ली के हाथ का पत्थर उससे छीन लिया और उसे दुकान के अन्दर बिठा दिया। बाहर खड़े कुछ बच्चे उसकी तरफ घूर-घूर कर देख रहे थे। एक बोला- -"तुमने देखा चुन्नी, बुल्ली कैसे पत्थर लिए भागा जा रहा था, कह रहा था, सिर फोड़ लूंगा।"

'फोड़ चुके सिर," चुन्नी ने उत्तर दिया। "फोड़ना ही था तो दुकान से सिर फोड़ कर ही बाहर निकलता। गाड़ी के नीचे फिर देना था तो जाकर दे दिया होता। आज तो गाड़ी भी देर से आई थी। शायद इन का इन्तज़ार करती रही हो। यह तो पहुंचे नहीं मरने के लिए। मरना आसान नहीं। यह बुल्ली है। किसी दिन वैसी ही मौत मरेगा।"

"कैसी ?"

"कुत्ते की सी। बुल्ली जो हुआ।"

बुल्ली के कान में इस बात की भनक पड़ी तो वह उन बच्चों की ओर उसी तरह से मुंह बना कर गुर्राया जैसे कुत्ते गुर्राते हों। लड़के हंस दिये, बुल्ली कुत्ते की तरह भौं भौं कर के भौंकने लगा, इतने में दो चार कुत्ते भी वहां आ गए। लड़के और कुत्ते, कुत्ते और बुल्ली, कुत्ते भौं-भौं करके उसे ही पुकार रहे थे। और लड़के चिल्ला रहे थे, बुल्ली-बुल्ली।"

मुंशीराम से अब रहा न गया, वह अपने आप में न था। उसने सहेलाराम की दुकान से छलांग लगायी और लड़कों और कुत्तों के बीच आ खड़ा हुआ।

"हां मैं बुल्ली हूं। बुल्ली कुत्ता। तुम्हें काट खाऊंगा। मैं हल्का गया हूं। भाग जाओ नहीं तो काट खाऊंगा।" लड़के तो उसे चिढ़ाने में पहले ही सधे हुए थे, वह भी उन्हें कम न चिढ़ाया करता था, वे इसे नित्य की स्वाभाविक बात ही समझ रहे थे। लड़कों ने मुंह चिढ़ाया और वह भौं-भौं करके उन के पीछे दौड़ा। उसके दिमाग में कुत्ते ही कुत्ते छा रहे थे। लड़के, जो कुत्तों से भी बदतर थे, गये बीते, कुत्ते जो उसे अपना समझते थे, लड़के जो उसे कुत्ता समझते थे और उसका अपना लड़का था, जिसे उससे पाला पोसा, बड़ा किया, पढ़ाया, लिखाया नौकर कराया, उसकी शादी की......"वह भी मुझे क्या समझता है ? अपने सम्बन्धी से जेवर उधार मांग कर शादी में दिखाने के लिए मैं ले गया, दो दिन के लिये, और यह नई नवेली दुल्हन को शहर ले गया, बीस तोले का मांगे का हार बेचकर बीबी को छोटे-कड़े बनवा दिये और बाकी पैसों से सैर सपाटा, सिनेमा, तमाशा देखता रहा। कुत्ता कहीं का......।"

इतने में बुल्ली का वही नवविवाहित पुत्री दुन्नी सामने से दिखायी दिया। घर से पिता के लिए भोजन लिये आ रहा था, उसने कहा,

,अब छोड़ो भी लड़कों का पीछा, और आकर टुकड़ा खा लो।"

"टुकड़ा खा लूं। तेरे हाथ से, तू मुझे क्या समझता है। यही न जो यह लड़के समझते हैं। तूने मुझे लूट लिया, मेरी हेठी करा दी। कल की उस छोकरी के लिये, मुझे भिखारी बना दिया......"

"क्यों ख्वाहमख्वाह भौंक रहे हो, लोगों को तमाशा दिखा रहे हो? क्या लूट लिया मैंने तुम्हारा। तुमने भी तो दुनिया को कम नहीं लूटा।"

मुँशीराम के कानों में और कुछ तो नहीं आ सका, "क्यों भौंक रहे हो?" यही बात सुनकर वह तड़प उठा। "तुम, तुम भी मुझे कुत्ता समझते हो? अपने बाप को, मैंने जिन्दगी भर किसी से मार नहीं खाई. कोई मुझे ठग नहीं सका, सबको मात दी है, पर आज तेरे हाथों पिट गया हूं। तू मुझे कुत्ता समझता है तू......मैं कुत्ता ही हूं। कुत्ते ही अच्छे हैं, इन्सान कुत्तों से भी गये बीते हैं।"

यह कहता हुआ बुल्ली गांव से बाहर जोहड़ की ओर भागता चला गया। लड़के तो नहीं गए क्योंकि उनके माता-पिता ने डांट-डपट कर रोक लिया, गांव के कुत्ते जरूर उसके पीछे भाग रहे थे। काले, भूरे, सफेद कुत्ते। जोहड़ के किनारे जाकर बुल्ली बैठ गया और उसके आस-पास कुत्ते बैठ गये, अपनी लबान लपलपाते हुए, उसे भरी-भरी आंखों से देख रहे थे। और तब से वर्षों तक बुल्ली वहीं जोहड़ के किनारे बैठा रहा कुत्तों के साथ, कुत्तों का हमजोली, गांव वालों में से किसी ने उसकी सुध-सार न ली, बेटा बीबी को लेकर अपनी नौकरी पर चला गया। उसकी पत्नी जरूर दोनों वक्त उसके लिये और उसके कुत्तों के लिये खाना ले आती थी। बुल्ली उसे पहचानता तक न था, वह कुत्तों से कहता, 'बेटे वह तुम्हारी माँ आई हैं टुकड़ा लेकर खा लो।' और बुल्ली की पत्नी आंखों में आंसू भरे उसकी ओर टुकर-टुकर देखती रहती और फिर घर को चली जाती। अन्य गाँवों से आने वाले राहगीर बुल्ली को पहुँचा हुआ फकीर समझ कर उसकी टहल-सेवा कर जाया करते थे, उससे वरदान पाने की आशा से, और बुल्ली अपने कुत्तों में ही मस्त रहता था।

ललित सहगल

सिगरेट और पेशो

छत पर एक कोने में बैठा पेशो जादू का एक खेल बना रहा था, उसके पास माचिस की एक खाली डिब्बी, माचिस की कुछ तीलियाँ, टेन नम्बर की दो सिगरेट और गोंद की एक शीशी रखी थी।

पेशो ने एक सिगरेट के चार टुकड़े किये—एक बड़ा, दूसरा उससे छोटा तीसरा उससे भी छोटा और चौथा सबसे छोटा। चारों टुकड़ों को उसने माचिस में गोंद से जोड़ दिया।

"एक सिगरेट बच गई।" उसने गम्भीरता पूर्वक सोचा, "इसका क्या किया जाए ?"

वह सोच ही रहा था कि नौकर मोती गीले कपड़े सुखाने के लिए छत पर आया। "क्या कर रहे हो, छोटे बाबू ?" उसने पेशो के समीप आकर पूछा।

"मोती रे, इस बची हुई सिगरेट का क्या करें ?" पेशो ने सिगरेट दिखाते हुए कहा।

"लाओ, मुझे दे दो, छोटे बाबू ! मैं पी लूंगा।" मोती ने जैसे समस्या का हल बताते हुए कहा।

पेशो ने सिगरेट देदी। मोती ने सिगरेट जलाली। पेशो ने उसे खूब मजे से लम्बे लम्बे कश खींचते देखा।

"मोती, सिगरेट क्यों पीते हैं ?"

"गम-गलत करने को पीते हैं, छोटे बाबू !"

"गलम-गत करना क्या ?"

"औरों की बात नहीं जानता। अपने बारे में इतना कह सकता हूं कि जब बीबी जी किसी बात पर डाँट देती हैं, तब सिगरेट पीकर गम-गलत कर लेता हूं।"

"अच्छाऽऽ, गलम-गलत ऐसा होता है ?"

गलम-गलत नहीं, छोटे बाबू ! गम-गलत !

"तो अब मैं भी गलम-गत करूँगा। कल करूँगा, फीऽर परसों को भी करूँगा, नरसों को भी करूँगा। और बतलाऊँ—नरसों से भी नरसों करूँगा, उससे भी नरसों करूँगा..."

"वह क्यों ?" मोती ने बीच में ही पूछा।

"इससिए कि स्कूल में मास्टर जी ने हिसाब के सवाल करने को दिये थे। सवाल हुए नहीं। मास्टर जी डाँटेंगे—पीटेंगे। मुझे गलम-गत होगा। मास्टर जी कहेंगे—कल कर लाना ! उस कल भी मुझसे नहीं होंगे..."

'क्यों ?" मोती ने फिर टोका।

"इसलिए कि मैं हिसाब में कमजोर जो हूं। मुझसे हिसाब के सवाल नहीं होते..." तभी पेशो को मुंडेर पर एक कौआ नजर आया और उसका ध्यान उस ओर चला गया।

'कौवा भाग ! भाग कौवा !" उसने तालियाँ बजाते हुए कहा। भगा दिया साले को !" उसने विजयोल्लास भरे स्वर ने मोती को सूचना दी।

"बाबू जी के सामने न कह देना साले-वाले ! हाँ, मारेंगे।"

"साला कहने में क्यों मारते हैं, मोती रे ?"

"उत्तर " नौकर ने जोर से सिगरेट का कश खींचा—स्वूऽऽऽ।"

"सिगरेट पीने में मजा आता है, रे ?"

"हाँ, बहुत, पी के देख लो !"

"ला, दे !" पेशो ने हाथ बढ़ाते हुए सिगरेट माँगी। मोती ने पहले तो देने से मना कर दिया, लेकिन पेशो के कई बार माँगने पर सिगरेट उसके हाथ में दे ही दी।

"कैसे पीऊँ ?"

"सिगरेट को होठों के बीच भींचकर अन्दर की तरफ साँस खींचो !"

पेशो ने नौकर के निर्देशानुसार सिगरेट होठों के बीच भींचकर साँस खींचा। उसे जोर की खाँसी आई। इतने में माँ खड़ाऊँ बजाती छत पर आ पहुँची। पेशो को खाँसता हुआ देखकर बोलीं, "खाँस क्यों रहा है रे ?"

वह चुप रहा।

"क्यों रे, बोलता क्यों नहीं ?" माँ ने फिर पूछा।

"मोती ने कहा था, माँ, कि सिगरेट पीने में बड़ा मजा आता है।" उसने अकृत्रिम रूप से कहा।

"क्यों रे मोती, पेशो ठीक कह रहा है ?" माँ ने पूछा।

"जी ! लेकिन..."

"लेकिन-वेकिन क्या ? बच्चों को इस तरह की बातें सिखायी जाती हैं। अब आगे से ऐसा न करियो ! जा जाकर बर्तन साफ कर !"

मोती चला गया।

"इधर आ, पेशो ! आगे से कभी सिगरेट छुई भी, तो बाबू जी से कह कर खाल उधड़वा दूंगी। और उस दिन जो तूने चीनी की प्लेट तोड़ी थी न उसकी भी बात कह दूंगी..."

"क्या बात है पेशो की माँ ?" पेशो के पिता ने छत पर आते हुए पूछा।

"कुछ भी नहीं," माँ ने कहा। "जरा बन्दर आ गए थे" और वह पेशो का हाथ पकड़कर नीचे चल दीं।

तब पेशो सात साल का था।

चार साल बाद...

विजय ने सिगरेट का फकाफक धुआँ उड़ाते हुए पेशो से कहा, "सिगरेट पीने से छोटा आदमी भी बड़ा हो जाता है।"

"कैसे?" पेशो ने विजय से, जो उम्र में उससे एक साल छोटा था, पूछा।

"अरे ! इतना भी नहीं समझते, मास्टर ?"

"नहीं।"

"दिलीप कुमार का नाम सुना है, बेटा ?"

"हाँ।"

"वह खूब सिगरेट पीता है। सुना है, सिगरेटों में सबसे बढ़िया सिगरेट पीता है। इसीलिए तो वह इतना बड़ा एक्टर है, जनाब !"

"अच्छा !" पेशो ने आश्चर्य से पूछा।

"हाँ, और फिल्मी-एक्ट्रसें भी पीती हैं।"

"नहीं।" उसने विरोध करते हुए कहा, "कहीं औरतें भी सिगरेट पीती हैं ?"

"वाह, मेरी जान ! तुम्हें इतना भी नहीं मालूम ? नरगिस का नाम सुना है ? अरे भई, नरगिस ! बड़ी बढ़िया एक्ट्रेस है, उस्ताद ! क्या पूछो ? वह ऽऽ, अरे उस फिल्म का नाम याद नहीं आ रहा। खैर, छोड़ो भी ! लेकिन वह पीती है, मैंने उसे कई फिल्मों में देखा है। खैर, फिल्म देखने चलोगे, छमिया ?"

"नहीं माता जी कहती हैं—फिल्म देखना बुरी बात है,"

"अरे वाहरे, माताजी के बटे !" विजय ने पेशो की चोटी खींचते ... ।

"कहाँ जा रहा है, यार ? पेशो ने उसका हाथ पकड़ते हुए पूछा, "कुछ और बात कर !"

"बच्चों से क्या बात करूं ?" और उसने चुटकी से सिगरेट की राख एक तरफ झाड़ी।

"मैं बच्चा नहीं हूं।"

"बच्चा नहीं है तो और क्या है ? न फिल्म देखता है, न सिगरेट पीता है, बच्चा तो है ही।"

"अच्छा, क्या बड़ा होने के लिए सिगरेट पीना जरूरी है ?"

"बिल्कुल ! उसी तरह, जिस तरह इम्तहान में पास होने के लिए पढ़ना जरूरी है।"

"सिगरेट पीने से खाँसी तो नहीं आती ?"

"खांसी-वांसी कुछ नहीं आती, पीएगा ?" और पेशो ने हाथ बढ़ाकर सिगरेट ले ली।

"बड़ा होने के लिए बड़ा करा खींचो ! खांसी आए तो जोरों से खांसो ! फिल्मों में महल, इमारतों में ताजमहल और सिगरेटों में लालमहल, लालमहल सिगरेट ! कम पैसों में ज्यादा मजा, लालमहल सिगरेट पीयो !"

घर पहुंचकर जैसे ही पेशो कुल्लियाँ करने को गुसलखाने की तरफ जाने लगा, तभी माँ गुसलखाने से निकली, पेशो के पास से निकलते हुए बोलीं—"तेरे मुँह से बू आ रही है, सिगरेट पी के आया है ?"

"नहीं तो, "पेशो ने अपना मुंह दूसरी तरफ करते हुए कहा।"

'नहीं तो क्या ? साफ बू आ रही है, झूठ मत बोल ! तू जानता है—मुझे झूठ बोलना कितना बुरा लगता है।" वह गुमसुम-सा खड़ा रहा। "बता ना !" माँ ने फिर पूछा।

"विजय ने···कहा था···कि सिगरेट पीने से आदमी···जल्दी बड़ा हो जाता है,"" वह लगभग रोते-रोते बोला।

"बड़े होते हैं बड़े काम करने से, सिगरेट पीने से कहीं बड़ा आदमी हुआ जाता है ? चल, आगे से न पीयो, वरना बाबूजी से कहकर खाल उधेड़वा दूंगी···"अरी, सुनती हो, पेशो की माँ ?" पेशो के पिता दरवाजे से घुसते हुए बोले,

"अरी, सुनती हो ? अभी मुझे एक नम्बर वाले वकील साहब मिले

थे, कह रहे थे—आपका लड़का सिगरेट पीने लगा है, मेरा तो शर्म से सिर झुक गया," और दरवाजे पर टगी छड़ी उठाकर लाते हुए बोले, "कहाँ है, पेशो ? सालें की खाल न उधेड़ दी तो बात नहीं।"

मां, समझाते बोली, "वकील साहब को तो इधर-उधर की कुछ कहने में मजा आता है, हमारा पेशो ऐशो ऐसा नहीं है।"

"वैसे कहां है, पेशो ?" पिता ने फिर पूछा,

"अन्दर कमरे में 'रामरक्षा' पढ़ रहा है,

पेशो के पिता कमरे में घुसते ही जोर से गरजे," क्यों बे, तू सिगरेट पीने लगा है ? अभी एक नम्बर वाले वकील साहब कह रहे थे।"

"न···ही···बाबू जी !"

" तो वकील साहब ऐसे ही झूठ बोल रहे थे ?"

वह चुप रहा।

"क्या यह 'रामरक्षा' अभी जबानी याद नहीं हुई ?"

"न···ही···बा···!"

'यह है ब्राह्मण की सन्तान ! 'रामरक्षा' तक जबानी याद नहीं है।" और गुस्से में आकर उन्होंने पेशो के गालों पर दो तमाचे जड़ दिए।

"याद कर ! अभी थोड़ी देर में आकर सुनूँगा," यह कहते हुए वह चले गए,

और 'रामारक्षा' पढ़ते हुए भी पेशो का मन विजय और उसकी बातों की तरफ लगा हुआ था,

× × ×

फिर पाँच साल बाद,...

"पेशो ! पेशो ! यह क्या है ? " पेशो के पिता ने उसके उतारे हूए कोट की जेब में सिगरेट का खाली पैकेट निकालते हुए कहा,

"जी...जी..."

"जी, जी, क्या लगा रखी है ! तूने सिगरेट पीना नहीं छोड़ा,"

"मैंने सिगरेट नहीं पी, वह...मेरा कोट विजय के पास था...शायद

उसने रख दिया हो..." वह अटक-अटक कर और डरते हुए बोला,

"उस अवारा के साथ रहे और सिगरेट न पीए ! असम्भव !"

"नहीं, बाबू जी ! मैं सिगरेट नहीं पीता, मैं सच कहता हूँ," वह बोला,

"झूठ !" और कोने में से छड़ी उठा कर लाते हुए उन्होंने एक छड़ी पेशो के मारी, "झूठ बकता है !" और दूसरी छड़ी मारी,

"तेरे खान्दान में कोई सिगरेट नहीं पीता, तेरा बाप नही पीना, तेरा तेरा ताया नहीं पीता, तेरा चाचा नहीं पीता, तेरा बाप तो प्याज तक नहीं खाता, और तू सिगरेट पीता है, तेरी अक्ल को क्या हो गया है पेशो ?

वह कुछ बोला नहीं।

"हूँ...तेरी अक़ल ऐसी ठीक नहीं होगी, मैं अभी कर देता हूँ—"और यह कह कर उन्होंने पेशो के तड़ातड़ छड़ी जमानी सुरू कर दी, और हर मर्तबा हर छड़ी मारने के संग वह यही कहते जाते, "बोल, सिगरेट पीना छोड़ेगा या नहीं ! सिगरेट पीना छोड़ेगा या नहीं ! बोल ! बोल !"

"मैं नहीं पीता, बाबू जी ! मैं सिगरेट नहीं पीता हूँ," पेशो ने कहा,

"झूठ ! झूठ !" और उन्होंने फिर तड़ातड़ छड़ी जमानी सुरू कर दी,

और मां ने पेशो को आकर बचा लिया।

"क्यों, क्या बात है, डार्लिंग ! यह चेहरा लटका हुआ क्यों है ?" विजय ने पेशो के कन्धे झिंझोड़ते हुए कहा,

"कुछ नहीं,"

"कुछ क्यों नहीं ? क्या मार पड़ी है, चॉकलेट ?"

"नहीं,"

"तो 'मूड' खराब है ? आओ, फिल्म देखकर 'मूड' ठीक करो !

हमारे साथ निर्मला भी चलेगी...''

"निर्मला कौन ?"

"अरे वही, उर्मिला की छोटी बहिन वही, जिसने तुमसे कालिज में किताब माँगी थी और तुम किताब देने की जगह झेंपकर भाग गए थे अरे, खूब गुजरेगी जब मिल बैठेंगे दीवाने दो...दो नहीं चार, क्यों ?

"नहीं, मैं न जा सकूंगा, मेरे पास पैसे नहीं हैं।" पेशो ने अपनी असमर्थता बताते हुए कहा—

"अरे पैसों की भी क्या फिक्र की, बुलबुल ? अभी तो माँ बदौलत जिन्दा हैं, चलो !...

"नहीं, मैं न जा सकूंगा।"

"तुम्हारी मर्जी, हम तो चले, गुडबाई, डार्लिंग !"

विजय के जाने के बाद पेशो निरुद्देश्य बाजार में घूमने लगा, उसने जेब में हाथ डालकर महसूस किया कि उसके पास एक इकन्नी है, उसने इकन्नी जेब में से निकाल ली और फिर देर तक इकन्नी को हथेली पर रखे देखता रहा।

"एक सिगरेट" उसने पनवाड़ी की दुकान पर पहुंचकर कहा।

सिगरेट जलाते हुए उसने एक नम्बर वाले वकील साहब को पनवाड़ी की दुकान की तरफ आते हुए देखा, वह डरा नहीं, उसने सिगरेट भी नहीं फेंकी।

"कहो, कैसे हो ?" वकील साहब ने पेशो के समीप आकर जान-बूझ कर पूछा।

"जी, बड़े मजे में हूँ" और उसने सिगरेट के धुएं का एक बड़ा-सा बादल छोड़ा।

विश्वनाथ भटेले

दूर के ढोल

मृदुलकुमार जिस दिन से राज्य विधान सभा का सदस्य चुना गया, ठीक उसी दिन से उसने रोज की रोज डायरी भरनी शुरू कर दी। राजनीतिक जीवन में किसी चीज का ठिकाना तो है नहीं, यह ख्याल दूसरे विधान सभाइयों की तरह मृदुल का भी था। इसीलिए वह सोचता था कि 'अवधि' समाप्त होने के बाद इस डायरी को 'विधान सभाई की डायरी' के नाम से प्रकाशित करा दूंगा। विधान सभा के सदस्य की जिन्दगी जाने कैसी होती होगी, यह बात देश की जनता को जाननी ही चाहिए। मृदुल सोचता था कि किताब इतनी बिकेगी, कि उसकी रायल्टी से दो-चार साल आराम से कट सकें। मृदुल की कहानी अभी खतम नहीं हुई थी, क्योंकि 'अवधि' खतम नहीं हुई थी। एक-एक दिन की डायरी के लिए सौ-सौ कहानियां नाचती आती थी। मृदुल किसे-किसे लिखे, यह समस्या भी बेचारे को परेशान किए हुई थी।

मृदुल की विधान सभाई के नाते जो जिन्दगी शुरू हुई, वह किसी भी उपन्यास से कम दिलचस्प नहीं थी। न सिर्फ दिलचस्पी ही बल्कि विचारपूर्ण विरोधाभासों का भी भण्डार इस जिन्दगी में उसने पाया।

एक स्वतंत्र उम्मीदवार के नाते उसने असेम्बली की मेम्बरी का पर्चा भरा था और गरीबी के नाम पर वोटों की अपील की थी। ऐसे लोगों को उसने अपने चुनाव-आन्दोलन की धुरी बनाया, जो सामान्यतः

समाज में उपेक्षित और मशकूक चालचलन वाले समझे जाते थे। इन में सभी गरीब लोग थे, जो रोज कुंआ खोदते और प्यासे रह जाते थे। इन लोगों को मौका नहीं था कि वे किसी के पास उठ-बैठ सकते। हलांकि चार भलों में बैठने की हौंस उन्हें बहुत थी। इन लोगों की संस्कृति में झूठ बोलने और बेसिर-पैर की गन्दी बातें करने की रोक नहीं थी।

वही वजह थी कि साफ कपड़े पहन कर दूकानों पर पान खाने वाले सभ्य लोगों की राय में वे गन्दे लोग कौवे, कुत्ते और बन्दर से ज्यादा वजनदार नहीं थे।

मृदुल ने चेतना की आँखों से इन गन्दे लोगों में भी एक संवेदन देखा और अपने चुनाव-लेक्चरों में उसे टंकोर दिया। मृदुल ने इन लोगों को उनकी गन्दगी दिखा दी। इनकी तबियत पर ऐसा नशा जारी कर दिया, जिससे उनकी आंखें मुँद गई और दृष्टि अन्तर्मुखी हो गई। उन गरीबों को अपनी अन्दरूनी गहराइयों में एक भरी सभा दिखाई दी, जिसमें उनके सभी परिचित चेहरे कुर्सियों पर, तख्तों पर या फर्श गलीचों पर डटे बैठे थे। बेहिसाब सजावट और बेशुमार वैभव सभा में बिखर रहा था। शक्ति के सम्मानित दरबार में उन घिनौने लोगों ने देखा कि वे कहीं नहीं हैं। उन्होंने आंख फाड़-फाड़ कर निहारा-घूरा; मगर वे वहां नहीं थे, नहीं थे। सामूहिक रूप से उन सब की आंखों में गैरत का मोती उग आया। उनकी आंखें खुल गई। वे मृदुल पर कुरबान जाने को दीवाने हो गए, जिसने उन्हें उनसे मिला दिया।

फिर तो वह हवा चली कि दिए से दिया जलने लगा। एक एक घर छूटा और चार-चार के कान चूम आया। चार भगे, सोलह जगे। सोलह ने चौंसठ चाटे और चौंसठ ने चार सौ चालीस। हद हो गई!

निर्वाचन के दिन ऐसी गंगा बही कि जो डूबे, सो पार भए। नदी-नाले और मोरी-परनाले सभी उसमें आ मिले, गंगोदक हुए। गणना हुई तो मृदुल के सभी प्रतिद्वन्द्वी उम्मीदवारों की जमानतें अमानत में

रह गई !

गजरे गिरे। जयनाद सीमान्तों तक तैरता चला गया। दावतें हुईं, अदावतें हुईं।

मृदुल नया-नया विधान भवन में पहुंचा तो खुदा की शान देखी। कुंए से छोरहीन समन्दर में आ गया। राज्यपाल की ओर से दी गई दावतों में, पहले-पहले सैशन में मृदुल को आकाश के तारे तलवों से कुचलने को मिले। चार-पांच महीनो में ही उसे आकाश से उतरना पड़ा लेकिन कोई खास एहसास नहीं हुआ। उसकी 'फीलिंग्स' में भी कोई नया 'चेंज' हुआ हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। पगार की दीवारों और भत्तों की छत्तों से बने शीशमहल में वह अटक गया। नीचे से किसी कमबख्त ने बाग दे दी कि मृदुल खजूर में लटक गया। मृदुल ने मिनिस्टरों को स.गस ा ी करते देखा और खुद को दांतों से सुपारी व जीभ से 'क्रिटीसिज्म' कतरते देखा। उसकी आंखों में अब तमन्नाएं उठें और गिर-गिर पड़े। गोते-भत्ते खाते डूबते-उतरते चुनाव-वर्ष गांठ बीत गई।

चुनाव-वर्षगांठ के दिन उसमें राजरानी के 'कैपिटल' रेस्तरां में चार दीगर दिलजलों के साथ दिन भर 'काफी' पी। रात डायरी में उसने सरकार की निस्सारता और खर्चीली बोझीली शासन मशीन में नए सुधारों पर कुछ सुझाव नोट किये।

दूसरे दिन विधान सभा में उसे सिंचाई की नई योजनाओं से सम्बन्धित एक सरकारी प्रस्ताव के समय बोलना था। सदन में बोलने का दिन विधान सभाई के लिए उतना ही गौरवपूर्ण होता है जैसे कवि का रेडियो कांट्रेक्ट वाला दिन। बड़े फजर से नहा-धो कर वक्त से कुछ पहले ही विधान भवन के 'रिफ्रेशमेंट रूम' में जा बैठा। वहां तो जो आते, सो बेताज बादशाह ही आते। मंत्री लोग ठीक कुछ मिनट पहले आए, दो-चार को देख-बोल कर उपकृत किया, और बेंचों पर चले गए।

सदन में पार्टियां होती हैं, आदमी नहीं होते। पार्टियों के पिंजड़े से बाहर इक्का-दुक्का पंछी जब पहुंच जाता है, तो सदन में उसकी दशा वैसी ही होती है जैसी चार साल पिंजड़े में रह कर कोई तोता उड़ जाए और आजाद जंगली तोतों में जा मिले। उसके पहुंचते ही पूरा झुण्ड उड़ जाएगा। कभी-कभी तो ऐसे तोते को पूरा झुण्ड मार-खा जाता है।

नम्बर आने पर मृदुल बोलने खड़ा हुआ। आज उसका बोलने का 'टोन' तिरछा और कलाम सख्त थे। उसे आज अपना भूखा-वीरान चुनाव क्षेत्र खूब याद आया था। उसने सरकार को सुझाव दिया—"सिंचाई के लिए विकास योजनाओं के अन्तर्गत देहातों में जो नल कूप खोदे गए हैं, उनसे किसान को पानी बिना मूल्य दिया जाएं। अकेला राजस्व-कर ही किसान से लिया जाना चाहिए। तीन-पाँच रुपए फी घण्टे के भाव पर किसान के खेत को पानी देना जायज नहीं है।"

पूरे सदन में हंसी और बलबलाहट का ऐसा वातावरण छा गया जैसे मृदुल ने कोई उलट बांसी कह दी हो। वह संभल नहीं पाया कि एक मंत्री की बगल से आवाज आई—'हर्षवर्धन का राज्य नहीं है!"

फिर एक बुलन्द ठहाका पड़ा। तेजी से मृदुल ने जवाब दिया· हर्षवर्धन का नहीं, पानी का पैसा खाने वाला राज्य है।"

यह तीर मृदुल को भवन में जमाता जा रहा था कि विरोधी दल के किसी माननीय सदस्य ने आवाज कस दी—"मृदुल भाई किस की कमाई खाते हैं?"

फिर ठहाका गूँज उठा। मृदुल पर पानी पड़ गया। उसने आग्नेय होकर विरोधी बेंचों की ओर देखा।

अध्यक्ष ने इतना काफी समझ कर आर्डर-आर्डर की लगाम खींची। मृदुल को बोलने का अवसर दिया गया। अब की वह बोला क्या, बस 'फायर' उगला।

उसके बाद ही सरकारी बेंचों की ओर से स्वयं मुख्य मंत्री उठे और जवाब देने लगे। मृदुल की पौन घण्टे की कुश्ती का एक जुमले में

उन्होंने यही जवाब दिया कि उनकी आकांक्षा पवित्र है, परन्तु वे अतीत की कब्र में रहते हैं। इस पर सदन में एक निर्णय अट्टहास ने पुनः जन्म लेकर सदन के नेता को सम्मानित किया।

उस दिन मृदुल किसी से नहीं मिला। शाम की 'हैवी टी' लेकर अपने गांव चला गया। चुनाव इलाके के नागरिकों की रोजमर्रा की जिन्दगी में हिस्सा लेने का लम्बा कार्यक्रम उसने तैयार कर लिया था। रात की गाड़ी से चल कर प्रातः होते होते वह घर पहुंच गया। दिन भर लोग आते रहे। किसी ने थाने में सिफारिश चाही; किसी ने जज के यहां मुकदमा ठीक करा देने की ख्वाहिश जाहिर की; एक ने दो रुपए मांगा लिए। शाम को 'हाकिम-निन्दा दरबार' में स्थानीय पुलिस दरोगा वगैरा का बहुत बार, बहु-भांति बखान हुआ। मृदुल दरोगा पर आग-बबूला हो गया और पुलिस के खिलाफ अखबारों में वक्तव्य जारी कर दिया गया।

अब तो जिले भर की पुलिस फोर्स उसकी दुश्मन; एस० पी० लोहू पिए बैठा। गुप्त रिपोर्टों में दर्ज किया जाने लगा कि श्रीयुत मृदुल एम० एल० ए० का सम्बन्ध असमाजिक तत्त्वों से है।

एक दिन शाम को मृदुल कॉफ़ी लिए बैठा था कि मोहनलाल आए और बोले—"चचा, तुम्हारे इकबाल को क्या करें? मेरा घर नहीं बसा और ये तीस बरस की उमर होगई। तुम्हारी दया दृष्टि हो जाए तो मेरे बाप का वंश डूबने से बच जाए।"

"मेरी कृपा से तेरी शादी कैसी होगी?" मृदुल ने चकित हो कर पूछा। मोहनलाल कुछ और इरादा लाए थे। उन्हों ने मृदुल को एम० एल० ए० बनाया था। लिहाजा पक्के पाए पर थे।

बोले—"वादा करो तो कहूं। मृदुल ने अपने को झुंझलाने से बचाते हुए पूछा—"अरे, कहो भी। बिना बताए क्या वादा कर दूं?"

वह बोले—'तो रहने दो। एक दिन वोट तुम ने मांगा था, मैंने दिया। मैं कहूं, तुम मना करदो, तो दिल टूट जाएगा।" मृदुल खुल

गया—"कोरे कागज पर दस्तखत करा रहे हो तुम तो।"

मोहनलाल ठसक से बोला—"भरम तहां खोलना चाहिए जहां खाली न जाए।"

मृदुल मारा गया। कानून के हरूफों में लिपट कर उस गन्दे और असह्य इन्सान की कोई खिदमत नहीं की जा सकती, जिसने उसे चुना था। इसीलिए वह राजधानी से भाग आया। उसने अनुभव किया था कि राजधानी का 'लोक' उसका नहीं है। यहां आ कर इलाके के गन्दे-गरीब भी उससे नाखुश-नामुराद जाते हैं तो परलोक गया ही था, यह लोक भी गया।

उसने मोहनलाल से 'हां' कर दी। उन्होंने 'त्रिवाचा' कहवा तो तब बताया कि अमुक गांव से अमुक की लड़की को कार में बिठा लाना है। लड़की के मां-बाप मोहनलाल के कुंए में लड़की को गिराना नहीं चाहते थे। मोहनलाल का दावा था कि लड़की उसी से शादी करने को तैयार बैठी है।

मृदुल ने तै कर लिया था कि शहर के आर्य समाज मन्दिर में या मैजिस्ट्रेट के सामने विवाह पक्का करा दिया जायगा। ज्यादा 'डिटेल' उसने मोहनलाल से नहीं पूछी। उसे भय था कि कहीं वह यह न समझे कि मृदुल कन्नी काट रहा है। उसे भूला नहीं था कि मोहनलाल ने उसके चुनाव में एक सौ एक रुपया चन्दा दिया था।

अगले दिन मोहनलाल कार ले आया। मुहल्ले के पांच-छः मशकूक चाल-चलन वाले दोस्त भी पीछे की सीटों पर बैठे थे।

मृदुल को कार में उन लोगों के साथ बैठते न जाने कैसा संकोच हुआ। उसके साथ वाली सीट पर मोहनलाल था। रास्ते भर आपस में बातें हुईं, उनसे मृदुल ने निष्कर्ष निकाला कि ये लोग जो काम करने जा रहे हैं, उसे कानून की भाषा में 'लड़की भगाना' कहेंगे। इस नजर से उसने अपने को जब देखा तो बिल्कुल नई परिस्थितियों में पाया। उसे गहरी फुरफुरी हो आई। मगर चुप बैठे चलने के अतिरिक्त चारा

क्या था ।

जिस गांव से लड़की आनी थी, वहां पहुंच कर कार रोक दी गई। सब लोग उतर गए लेकिन मृदुल आड़ में ही बैठा रहा।

एक आदमी गांव में हवा-खबा लेने चला गया। दोपहर का वक्त था। भरे-भरे बादल कई ओर से हुकारते आ रहे थे। हवा बन्द थी और पसीने की धारें चल रही थीं। सड़क पर गाड़ी खड़ी थी और मृदुल गुमसुम बना बैठा था। ऐसा लगता था जैसे उसकी समस्त इन्द्रियोंमें से सिर्फ आंखें ही ठीक काम करती है, शेष सब 'जाम' हैं।

एकाएक सामने से एक मोटर-ठेला आया और कार के पास रुक गया। ताड़-फाड कर के आठ कांस्टेबिल कूदे और कार-सवार सब घेर लिए गए। थानेदार ठेले की अगली सीट पर से ही बोला—"बांध लो हरामजादों को; लड़की उड़ाने आए थे!"

मोहनलाल चिल्लाया—"हमारे साथ लाट साहब की कौन्सिल के मेम्बर साहब बैठे हैं!"

दरोगा वहीं से बोला—"ले चलो सब को थाने; बकवास सुनने की फुर्सत नहीं है।"

और शाम जब हुई तो दरोगा सदर से लौट आया था। एम० एल० ए० साहब किस परिस्थितियों में पाए गए थे, यह बताने के लिए वह सुपरिंटेंडेंट से मिला था। कप्तान साहब और जिलाधीश ने ऊपर से वायरलैस द्वारा इजाजत ले ली कि मृदुलकुमार के साथ गैरमामूली बर्ताव न हो कर वैसा ही हो, जैसा इस इस जुर्म में फंसे दूसरे लोगों के साथ होता है। राजधानी के रजिस्टर में यह देख लिया गया था कि सदन में मृदुलकुमार किधर बठते हैं? सदन में दिए गए उनके वक्तव्य भी एक बार फिर देख लिए गए थे और तब जिलों के हाकिमों को उचित आदेश दे दिया गया था। कानून की निगाह में राजा और रंग बराबर हैं। लिहाजा मृदुलकुमार ने रात हवालात में गुजारी। थानेदार,—"कोई तकलीफ तो नहीं है सरकार" कहने गया, तो उसने भरे हुए

लहजे में संजीदगी से यह भी कहा था—"प्रभु, नौकरी न कराए। इसमें आदमी मजबूर हो जाता है। हुजूर, मुझे सिर्फ नौकर समझें, कुछ अन्यथा न समझें।" मृदुल कुछ भी न बोला। आंख मूंद कर सर्प डसा-सा वह एक ओर कम्बल बिछा कर लेट गया। उसकी पलकें मुंदी थी लेकिन दिमाग पूरी तरह जाग रहा था। उसकी बन्द आंखों में कल सवेरे आने वाले अखबारों की सुर्खियां चुभ रही थी जिनसे उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व छलनी-छलनी हो जायगा।

कौन अलग से मोहनलाल की सुन रहे थे—"चोट खा गए! हम बाबूजी की लाटसाहबी में मारे गए। अगर जरा भी मालूम हो जाता कि इन्हें कोई हाकिम गली का कुत्ता तक नहीं समझता, तो हम कतई इस काम पर कदम न देते।" आंख और कान दोनों को जब समझदारी के पुल पर मृदुल ने इकट्ठा देखा तो उसे आज तक अपना सम्पूर्ण किया-धरा फिजूल मालूम हुआ। एम० एल ए० होने के पहले उसने जो कल्पना-चित्र तैयार किया था वैभव की जो शब्दहीन गूंज विधान भवन के गुम्बज में वह सुन रहा था, इंसानियत की पूजा-सेवा का जो संगीत उसके मन में बजता था—आज सब झूठा निकला। वह दूर का ढोल था, जो पास आने पर 'ढब-ढब' करता है। मृदुल आज हवालात में भी डायरी लिखना चाहता है, मगर कागज नहीं है।

स्वदेश कुमार

ममता

जमे हुए दही में जैसे गुलाबी रंग, झलक मार रहा हो—ऐसा था नीरजा का रंग,

बड़ी-बड़ी आंखें जैसे नीले जल की झील हों, शरीर की बनाट ऐसी कि संसार का बड़े से बड़ा शिल्पी भी उसे देख कर हार मान जाए, जब वह हंसती तो सितार की तरबें एक-एक करके झनझना उठतीं, ऐसी नीरजा को पा कर कौन अपने को बड़भागी न मानता ? उसका पति रमेश तो जैसे निहाल हो गया, उसका रोम-रोम नीरजा पर न्योछावर था, नारी को जिस वस्तु की भी चाहना हो सकती है, वह रमेश ने नीरजा के चरणों पर ला रखी,

पति के इस अपार प्रेम को नीरजा बड़े जतन से हृदय में छिपाकर रखती, वहीं ऐसा न हो कि कोई उसे छीन ले,

एक दिन रमेश घर में नहीं था, नीरजा दुमंजिले पर खड़ी उसकी राह देख रही थी, सड़क पर लोग अपनी धुन में इधर-उधर चले जा रहे थे, चार पांच छोटे छोटे लड़के बांसुरी और ढोल बजाते हुए उधर आ निकले, उन के साथ एक आदमी भी था, नीरजा का ध्यान उधर ही जम गया, लड़के हर घर के सामने खड़े हो कर बैंड बजाते, वहाँ से कुछ पा लेने या फिर दुत्कारे जाने के बाद आगे बढ़ जाते, थोड़ी देर बाद वे नीरजा के घर आगे आ कर खड़े होगए, नीरजा उन्हें देखती

रही और वे बैंड पर धुन बजाते रहे।

धुन जब समाप्त हो गई तो एक बच्चे ने ऊपर की तरफ देख कर नीरजा से गिड़गिडाते हुए कहा।

"माँ, अनाथ बच्चों को कुछ मिल जाए,"

बच्चे की उमर पाँच साल की होगी, भोला मुख, आँखों में याचना, नन्हे हाथ नीरजा की ओर उठे हुए, नीरजा ने एक बार उस की ओर देखा और फिर देखती ही रही, कितना भोला—जैसे मासूमियत ने उसे अपने हाथों से गढ़ा हो,

"माँ, अनाथ बच्चों पर दया करो," वही रटा रटाया वाक्य और आंखों में याचना,

अनायास ही नीरजा के पैर उठे, सीढ़ियों पर उतर कर कमरे के फरश, को तैर कर पार कर गए,और बाहर के बरामदे में जाकर रुक गए, हाथ पसारे बच्चे पर दृष्टि गड़ गई।

"कुछ दया हो जाए, माताजी।"

नीरजा चौंक पड़ी,

"कौन है ये बच्चे ?" नीरजा ने साथ वाले आदमी से पूछा।

"अनाथ हैं, माताजी, इसी शहर के अनाथालय में पलते हैं।"

"इनके माँ-बाप नहीं हैं ?" नीरजा ने पूछा।

"अनाथों के माँ-बाप नहीं होते, माताजी।"

"क्या मर गए ?"

"पता नहीं मर गए या जीवित ही कहीं मुँह छिपाए होंगे, कम से कम इन बच्चों को पता नहीं इनके माँ-बाप कौन हैं।"

नीरजा ने और कुछ पूछना उचित नहीं समझा। दस रुपए का नोट उस बच्चे के हाथ में पकड़ा दिया। नीरजा की आँखों में दुलार था। बच्चे की आँखों में कुछ नहीं। उसने नोट अपने संरक्षक को दे दिया, नोट-लेते हुए वह बोला,-' माताजी, इन अनाथों को आप ही का सहारा है।"

नीरजा ने बच्चे की तरफ देखते हुए कहा,—"फिर कभी इस तरफ आना हो, तो यहां जरूर आना।"

"जरूर, जरूर" संरक्षक ने अत्यन्त कृतज्ञता का भाव दर्शाते हुए कहा, फिर बच्चों से बोला—"माताजी को नमस्ते करो।"

बच्चों ने आज्ञाकारी पुतलों की भांति हाथ जोड़ दिए, फिर बैंड बजाते हुए आगे चल दिए। नीरजा उन्हें देखती रही, फिर अन्दर चली गई।

शाम को जब रमेश घर आया तो नीरजा को अन्यमनस्क-सा कमरे में बैठा पाया।

"कुछ उदास दिखाई देती हो?" उसने नीरजा के सामने खड़े हो कर कहा।

"नहीं तो" नीरजा जैसे चौंकते हुए बोली उठ और खड़ी हुई। "आप की प्रतीक्षा कर रही थी, आज देर से आए हो।"

"देर? आज तो मैं जल्दी ही चला आया। किन विचारों में खोई हुई थीं?"

"आपके विचारों में" नीरजा ने सहज मुस्कान के साथ रमेश की ओर देखा।

रमेश लुट गया। बाहुपाश,...चुम्बन...अतृप्ति...चुम्बन। नीरजा की आंखें मुंदी-मुँदी मुंदी। आँखों में उस भोले अनाथ बच्चे का चित्र—नीरजा के विचारों का केन्द्रबिंदु। पति की समीपता का कुछ ज्ञान नहीं।

आकाश के काले आँचल में तारे चमके, धरती की गोदी में फूल मुसकाए। काला आँचल तो नीरजा, चमकीले तारे वह अनाथ बच्चा; धरती की गोदी तो नीरजा, मुसकराते फूल वह बच्चा। उसे बच्चे के प्रति नीरजा की दया ममता वेगवती नदी के समान बढ़ती गई। वह उसी की याद में खोई रहती। बिना माँ-बाप का बच्चा कौन उसके लिए खिलौने लाता होता? कौन उसे दुलारता होता? किसकी गोदी में वह 'माँ, माँ' कह कर चढ़ता होगा? कौन उसे थपकियाँ देकर सुलात

होगा ? नीरजा का हृदय द्रवित हो उठता . आँखों से आँसू बहने लगते ।

अपने आवेग को नीरजा बहुत छिपाती, पर रमेश को पता चल ही गया । वह बाहर जाते-जाते रुक जाता, सोते-सोते जाग उठता और नीरजा का मुख अपने हाथों में साध कर ऊपर उठाता, उसकी सजल आँखों में अपनी दृष्टि तैराते हुए वहाँ कुछ खोजता और पूछता—

"यह तुम्हें दिन पर दिन क्या होता जा रहा है, नीरजा ?"

नीरजा उत्तर न देती तो रमेश उसके प्रति अपने व्यवहार, अपने प्यार में कोई कमी ढूँढ़ने का प्रयत्न करता । जब किसी निश्चित परिणाम पर न पहुँचता, तो फिर एक बार नीरजा की आँखों में डुबकी लगाने की कोशिश करता । लेकिन तब तक नीरजा की आँखों का जल सूख चुका होता, और उसका मुख ऐसा लगता जैसे कोई मुरझाया हुआ फूल मुसकराने का प्रयत्न कर रहा हो ।

यह देख कर रमेश को बहुत ढाढ़स बँधता—जैसे चुराई हुई सम्पत्ति भागते हुए चोर के हाथों से छूट कर रमेश को वापस मिल गई हो ।

लेकिन सम्पत्ति चोरी होने और वापस मिल जाने का यह खेल जब प्रायः नित्य ही होने लगा, तो रमेश ने निश्चय किया कि चोर को पकड़ कर सजा दे ।

और एक दिन रमेश जब बाहर से घर आ रहा था तो दूर से ही उसने देखा कि उसके घर के सामने चार-पाँच बच्चे बैंड बजा रहे हैं, और नीरजा सामने खड़ी है । फिर बैंड बंद हो गया और नीरजा ने एक बच्चे के हाथ में एक नोट पकड़ा दिया । बच्चे आगे बढ़ गए । उसके पास से गुजरे तो रमेश ने उस बच्चे पर एक उड़ती-सी नजर डाली, तो दूसरे ही क्षण उसी पर जम गई । कितना भोला, कितना प्यारा बच्चा है !

रमेश घर में आया । देखा नीरजा बहुत प्रसन्न है । उसकी प्रसन्नता रमेश के मन पर भी छा गई । लेकिन उसने उस समय नीरजा से कुछ नहीं कहा ।

सूरज ढल गया और पूनम का चाँद चमक उठा। लेकिन नीरजा अमावस की काली रात बन गई। रमेश के मन में संशय जगा, और वह उसकी पुष्टि करने के लिए आतुर, व्याकुल हो उठा।

नीरजा पलंग पर लेटी हुई थी। रमेश की तरफ से करवट ले रखी थी। रमेश ने उसे अपनी ओर करते हुए पूछा–"सो गईं क्या ?"

"नहीं तो," नीरजा ने रमेश की ओर देखे बिना कहा।

"जरा मेरी तरफ देखो," रमेश ने उसकी ठोड़ी ऊपर करते हुए कहा।

काली बरौनियों का परदा आँखों पर से उठा। दृष्टि रमेश के मुख पर जा टिकी। उसके मुख पर छाए भावों की छाया धीरे-धीरे नीरजा के मुख पर भी अपना प्रभाव डालने लगी। परेशान सी हो कर उसने पूछा, "क्या बात है ?"

"बात क्या है—यही मैं तुमसे पूछना चाहता हूं," संतुलित वाणी में रमेश ने उत्तर दिया।

"कैसी बात ? क्या पूछना चाहते हो ?" नीरजा अन्दर ही अन्दर अपना संतुलन खोती जा रही थी।

रमेश से यह छिप न सका। बोला, "बेकार की कोशिश कर रही हो अधिक छिपा न सकोगी।

"आप तो इस प्रकार पूछ रहे हैं, जैसे वकील चोर से जिरह कर रहा हो," नीरजा की आवाज में थोड़ी झुंझलाहट थी।

रमेश ने मुसकरा कर कहा–"न तो मैं वकील हूं, और न तुम्हें चोर समझता हूं। तुम्हारी उदासी ही मुझे इतने दिनों से परेशान कर रही है। लेकिन जब देखता हूं कि अनाथालय उस बच्चे को देख कर तुम प्रसन्न हो उठती हो तो..." रमेश एक दम रुक गया।

"तो ?" नीरजा एक दम चौंक पड़ी।

"सोचता हूँ उसे अपने घर ले आऊं और यहीं रखूं। क्या राय है तुम्हारी ?"

बादलों की टुकड़ियाँ बारी-बारी से अँधेरा और उजाला करतीं चाँद के ऊपर से गुजरने लगीं—हाँ...नहीं...हाँ...नहीं...

"नहीं।" और इसके साथ ही जैसे नीरजा ने स्वयं अपने दिल पर एक भारी पत्थर दे पटका हो। उसका ममत्व चीत्कार कर उठा।

"नहीं" रमेश ने आश्चर्य से पूछा। "वह तो तुम्हें बहुत अच्छा लगता है ?"

नीरजा 'नहीं' कहना चाहती थी, पर अनायास ही उसके मुँह से 'हाँ' निकल गया, जैसे शीशे के गोले को फोड़ कर उसके अन्दर बंद वायु वेग से बाहर फूट पड़ी हो।

"तब मैं उसे जरूर ले आऊंगा।"

"नहीं, नहीं !" नीरजा जैसे चीख पड़ी। "पराए पाप को क्यों हम अपने घर में पालें ?"

"मैंने तो इसीलिए कहा था कि वह यहाँ रहेगा तो तुम भी प्रसन्न रहोगी। खैर, जैसी तुम्हारी इच्छा।" रमेश के हृदय पर रखा वजन हलका हो गया।

उस दिन बात वहीं समाप्त हो गई। दिन बीतते गए। रमेश ने अब कभी नीरजा को उदास न पाया। उसने बहुत कोशिश की कि बाहरी प्रसन्नता के आवरण के पीछे क्या छिपा है, यह जान सके। पर अन्त में हल न होने वाला प्रश्न समझ कर उस तरफ से ध्यान हटा लिया।

लेकिन एक दिन शाम को जब वह लौट कर आया तो नीरजा को घर में न पाकर चकित हो गया। यह कैसी अनहोनी बात ? पहले सोचा कहीं पड़ोस में चली गई होगी। थोड़ी देर इंतजार किया। पर फिर भी जब नीरजा न आई, तो नौकरानी को बुला कर पूछा। उससे मालूम हुआ कि नीरजा तो दोपहर की ही बाहर गई थी—किसीको कुछ बताया भी नहीं।

रमेश का आश्चर्य और भी बढ़ गया। वह यह न सोच सका कि

अब क्या करे। आगे मार्ग दिखाई दे, तो उस पर चले भी।

कुछ होश आया, तो पहली आशंका जो उसके मन में उठी वह यह कि कहीं नीरजा के साथ कोई दुर्घटना तो नहीं हो गई। उसने शहर भर के थानों और अस्पतालों को फोन कर के पूछा। नहीं, किसी भी दुर्घटना का सम्बन्ध नीरजा से नहीं था।

तब ? उलझा-सा, परेशान-सा वह पलंग पर बैठ गया। तकिया उठा कर गोदी में रखा और उस पर कोहनी टिका, हथेलियों में मुँह गड़ाए विचारों में डूब गया। निगाह कमरे में चारों तरफ घूम रही थी। नीरजा की एक-एक चीज अपने स्थान पर ज्यों की त्यों रखी थी—सजी हुई, सँवरी हुई, स्पंदनहीन, जैसे उन्हें पता न हो कि उनकी स्वामिनी इस घर को झकझोर कर चली गई है।

रमेश उठा और नीरजा की एक-एक वस्तु को हाथ से छू छू कर देखने लगा कि शायद उन में से ही नीरजा प्रकट हो जाए।

शृंगार-मेज पर चूड़ियों का डिब्बा रखा था। रमेश ने उसे खोला। चूड़ियों को छुआ तो खनखना उठीं। लेकिन इनके नीचे यह कागज़ कैसा रखा है ! रमेश ने उठाया और उसे खोल कर पढ़ने लगा—

"रमेश, मैं इस घर से सदा के लिए जा रही हूं। कहाँ और क्यों—यह नहीं बताऊंगी। समझ तो तुम भी जाओगे ही, पर मैं स्वयं कुछ कह कर तुम्हें दुख नही देना चाहती। क्षमा तो नही कर सकोगे, पर फिर भी... नीरजा"

लोहे के समान इन ठंडे और कठोर शब्दों की जंजीर रमेश की गरदन के चारों ओर लिपट कर उसका दम घोटने लगी। सारे शरीर से घनघना कर पसीना छूटने लगा। हृदय मानो सागर की अगम गहराइयों में डूबता चला गया।

हो न हो उस बच्चे की ममता ही नीरजा को यहाँ से खींच कर ले गई है। कुछ देर बाद जब रमेश की विचार-शक्ति लौटी तो वह मन ही मन तर्क-वितर्क करने लगा। लेकिन, जब मैंने बच्चे को यहाँ

लाने का प्रस्ताव रखा था, तब क्यों उसने मना कर दिया। पराया पाप...पराया पाप...रमेश इसी में उलझता गया...उलझता गया... पराया...ओह, तो यह बात है। पराया नहीं...अपना...नीरजा का अपना पाप... नीरजा का अपना पाप! घनघना कर जैसे एक भारी हथौड़ा रमेश के सिर पर पड़ा हो। कुलटा! जाने दो उसे। अच्छा हुआ स्वयं ही मुँह काला कर गई।

लेकिन रमेश का उस शहर में रहना दूभर हो गया। किस-किस को उत्तर दे कि उसकी पत्नी कहाँ चली गई है। वह शहर छोड़ कर दूसरी जगह चला गया।

पन्द्रह वर्ष बीत गए। समय की गर्द ने जाने अपने नीचे क्या-क्या छिपा लिया। रमेश ने भी पिछली बातें बहुत-कुछ भुला दीं, लेकिन भूले-भटके नीरजा का ध्यान आ ही जाता। कहाँ होगी वह? कैसी होगी? फिर सोचता कहीं भी हो कैसी भी हो उसे क्या? लेकिन फिर भी...

रमेश ने दूसरा विवाह नहीं किया। चाहता तो कर सकता था, पर इच्छा ही नहीं हुई। नीरजा के प्रति उसके मन में जो क्रोध और घृणा थी, वह इन पन्द्रह वर्षों में कदाचित् नाममात्र को ही रह गई थी। उसके प्रति तटस्थता का भाव ही अधिक था। इन वर्षों में जब भी उसने नीरजा को दोषी ठहराना चाहा, उसे अपने-जैसे ही किसी पुरुष का दोष अधिक दिखाई दिया।

अपनी फर्म में काम करने वालों को रमेश नौकरों की तरह नहीं समझता था। उसने कभी दो आदमियों का काम एक से नहीं लिया। उन पर कभी कोई मुसीबत पड़ती तो रमेश की न केवल पूरी सहानुभूति होती, बल्कि वह हर तरह से उनकी सहायता भी करता।

पिछले कुछ महीनों से रमेश की फर्म में एक नया क्लर्क काम पर लगा था। उस युवक-मोहन-की कार्यपटुता से रमेश अत्याधिक प्रभावित था।

दो दिन से मोहन अपने काम पर नहीं आ रहा था, और न ही उस

ने कोई खबर भेजी थी। रमेश को चिन्ता हुई। उसने सोचा कि ड्राइवर को भेज कर उसकी खबर मँगवाए। तभी मोहन स्वयं आगया। उसकी दशा बड़ी खराब थी। बाल रूखे, चेहरे पर हवाइयां, घबराया हुआ।

देख कर रमेश ने पूछा—"क्या हुआ तुम्हें ? क्या बीमार हो ?"

"मैं नहीं। मेरी माँ बीमार है, बचने की कम ही उम्मीद है। अगर माँ को कुछ हो गया तो मैं अनाथ हो जाऊंगा।" मोहन सिसकने लगा।

"तुम्हारे पिता नहीं हैं ?" रमेश ने पूछा।

"नहीं।"

"ओह, खैर, तुम कोई चिंता न करो, यह लो," रमेश ने मोहन को सौ रुपए का एक नोट पकड़ाते हुए कहा—"और जाकर अपनी माँ का ठीक से इलाज कराओ। और जरूरत पड़े तो निस्संकोच माँग लेना।"

मोहन का हृदय द्रवित हो उठा आँखों में आँसू भरे वह घर जाने लगा। तभी रमेश ने उसे रोक कर कहा—"ठहरो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूं।"

एक छोटे-से कमरे में घुसकर रमेश ने देखा गरदन तक लिहाफ़ ओढ़े कोई चालीस वर्ष की एक स्त्री आँखें बन्द किए लेटी है। वह बुखार में बेसुध थी। रमेश दो कदम उसके निकट जा कर खड़ा हो गया। उड़ती निगाह उसके चेहरे पर जम गई...याद के घोड़े लगाम तोड़ कर दौड़ने लगे···स्त्री का चेहरा बदलने लगा......स्पष्ट होता गया...पंदरह वर्ष पहले का एक चेहरा...जमे हुए दही में जैसे गुलाबी रँग झलक मार रहा हो...नीरजा ! रमेश के होंठ बुदबुदा पड़े। सांस तेज हो गया। उसने पास खड़े मोहन की तरफ देखा...तो इसीके लिए नीरजा उसे छोड़ कर चली गई थी। जी में आया मोहन का गला घोंट दे, सामने लेटी नीरजा की हत्या कर दे...उसने अपमान का बदला ले क्रूर बदला...जैसे-जैसे इस विचार की तीव्रता बढ़ती गई रमेश का अंग-प्रत्यंग क्रोध में ऐसे कांपने लगा जैसे आँधी में पेड़ का पत्ता।

"माँ का बुखार बहुत तेज हो गया है," मोहन ने रुआंसा होकर

कहा।

रमेश जसे चौंक पड़ा, उठते तूफान का गति रुक गई।

"माँ को कुछ हो गया तो मैं अनाथ हो जाऊंगा" मोहन सुबकने लगा।

रमेश ने एक नजर मोहन को देखा, फिर फिर नीरजा की—और फिर तेजी से कमरे से बाहर निकल गया, मोटर स्टार्ट की और एक्सीलरेटर दबा दिया। हवा को चीरती हुई मोटर बेतहाशा दौड़ने लगी... रमेश के विचार भी दौड़ रहे थे...जिन्होंने उसे अपमानित किया था, उनसे वह बदला भी न ले सका। क्यों ?...क्यों ?...पर कहा मिल सका उसे इस 'क्यों' का उत्तर।

दूसरे दिन जब वह अपने दफ्तर आया तो सूचना मिली कि मोहन की माँ रात को ही मर गई।

"अच्छा हुआ !" उसके मुंह से निकला। फिर सूचना देने वाले के भौंचक मुख पर दृष्टि पड़ी तो सिटपिटा कर पूछा—"क्या कहा तुमने ?'

"कल रात मोहन की मां मर गई।"

रमेश बिना कुछ कहे एकदम उठा और सीधा मोहन के घर पहुंचा, माँ के शव से चिपटा मोहन बिलख रहा था, रमेश चुपचाप एक तरफ खड़ा रहा। सहानुभूति के दो शब्द भी उसके मुख से न निकले।

लेकिन जब श्मशान घाट पर मोहन की माँ का शव चिता पर रखा गया, तो रमेश आगे बढ़ कर बोला, "अग्नि देने का अधिकार मेरा है।"

लोग आश्चर्य से उसकी ओर देखते हुए पीछे हट गए।

रमेश ने जब चिता में आग लगाने के लिए हाथ बढ़ाया तो उसे ऐसा लगा कि नीरजा मुसकरा रही है...कुछ कह रही है...रमेश के होंठ बुदबुदाए'''मैं तुम्हारी बात समझ गया, नीरजा...।

वापस लौटने पर रमेश मोहन को अपने साथ ही अपने घर ले गया।

"आज से इस घर को तुम अपनी ही घर समझना" उसने मोहन के सिर पर दुलार से हाथ फेरते हुए कहा—"तुम्हारी माँ...तुम्हारी माँ...मेरी...भी...कोई थी..." रमेश का गला भर आया।

रमाकान्त 'कान्त'

काश मैं कवि न होता

बाढ़ में बिखरती नदी अपने ही जल से सींचे पोसे खेतों को तबाह करके जब उतार पर आती है, तब आवेग में किए गए अपने कुकृत्य पर वह कितना-कितना सिर धुनती है—यह बात कितने लोग समझ पाते हैं।

मेरे इस सदा प्रफुल्लित व्यक्तित्व के पीछे आत्मग्लानि का कितना गहरा घुन लगा है, इसे ही कौन जानता है।

कोई जाने, इसका आग्रह भी क्यों हो ; परन्तु मेरे लिए तो आत्म प्रवंचना का मार्ग है नहीं। बरस पर बरस बीतते गए हैं, बीतते जा रहे हैं, पर कहाँ भरा है वह घाव, जो सरोज का आत्म विसर्जन मुझे दे गया है।

आत्म विसर्जन ही कहूंगा उसे, क्योंकि सरोज की मौत आई नहीं थी, बुलाई गई थी। बुलाया भी उसे क्षिप्रगति से नहीं गया था, उसका आगमन हुआ था, धीर गम्भीर चरणों से।

कई बार मन पर जब ज्यादा बोझ हुआ है, जब पीड़ा असह्य हो गई है, तब मैंने अपनी जीवन डोर को एक झटके से तोड़ देना चाहा है, परन्तु बढ़े हुए हाथ रुक गए हैं, उठे हुए चरण जड़ हो गए हैं, मेज पर पानी का गिलास और जहर की पुड़िया रखी रह गई है।

क्यों अवरुद्ध कर गई हो मेरे सारे मार्ग तुम ? घुल घुलकर मरने

दुस्तव साधन का ही निर्देश क्यों दे गई हो तुम मुझे सरोज ?

बात तब की है जब जीवन में ज्वार था, जब जरा ने चेहरे की लुनाई को सोख नहीं लिया था, जब एक झूठे अहम ने विवेक की आँखों पर एक घना परदा डाल रखा था। उस अहम को झूठा तो खैर मैं अब मानता हूं, परन्तु तब तो प्राणपण से उसकी रक्षा करना ही एक-मात्र लक्ष्य मान बैठा था मैं। मेरे उस अहम का दंड विधाता ने सरोज को उठा कर दिया और उसी अहम का दंड विधाता मुझे न उठा कर दे रहे हैं।

उस अहम का सृजन किया था मेरे अन्दर के कवि ने, उस अहम का पोषण किया था, कवि के रूप में मेरी ख्याति ने और उस अहम के शव को ढो रहा है अब यह ऊपर से हिमशीतल और भीतर से ज्वाल-ताप्त शील।

शील यानी मैं, प्रसिद्ध कवि सुधांशु। सरोज ने जाने क्यों मुझे शील नाम दिया था, पर पुकारती वह शील कह कर ही; कभी पूछा भी तो कहा दिया—"बस, अच्छा लगता है। तुम्हें सबसे अलग एक नाम से पुकारना अच्छा लगता है।"

सबसे अलग उसका, केवल उसका, अकेली सरोज का रहे शील—इस प्रयत्न में वह बिखर गई, असंख्य-असंख्या खंडों में टूट कर रह गई।

सोचता हूं—काश, ऐसा हो पाता, तो क्या अच्छा न रहता ? अपने जिस कवि की, जिस अहम की रक्षा में मैंने सरोज की, सरोज को शील की हत्या कर दी, उसके गीत आज मुझे ही क्यों खोखले लगते हैं ? मेरे जिन गीतों पर आप झूम-झूम जाते हैं, उनपर क्या मैं सिर धुन-धुनकर नहीं रह जाता ? शील का गला घोंटकर मैंने सुधांशु के लिए तिल-तिल मरन मोल लिया है। इससे बड़ी बिडम्बना की कल्पना कौन करेगा ?

प्रथम परिचय हुआ था सरोज के ही कालेज के कवि-सन्मेलन में। उस दिन तबियत मेरी कुछ खराब थी। हल्का-हल्का ज्वर था। आना नहीं चाहता था; परन्तु संयोजकों का आग्रह और अपना भोला स्वभाव,

आखिर चला ही आया। हवा लगने से, श्रम से भी, मंच पर बैठने के बाद ज्वर कुछ बढ़ गया। कहा मैंने किसी से कुछ नहीं, बस बैठा ही रहा चुपचाप। अपना नाम बुला, तो उठने पर चक्कर सा आने लगा। खैर किसी न किसी तरह कविता पढ़ा दी।

तूने मुझको ठुकराया है जाने किसी बार;
वापस दान तुझे मैं देता तेरा पहली बार;
इसे मैं जीत कहूं या हार !

गीत के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते आँखों के आगे अंधेरा-सा आने लगा था; तालियों की गड़गड़ाहट कहीं दूर से आती प्रतीत होने लगी थी। तभी "एक और" "एक गीत और", "कवि सुधाशुजी" की आवाजें आने लगी। सभापति महोदय ने भी आग्रह किया, संयोजकजी अपनी सफलता पर प्रफुल्लित—वह भी "जी, बस एक और कहने से क्यों चूकते; परन्तु दूसरी कविता पढ़ना मेरे लिए असम्भव था—नम्रता से 'माइक पर कह दिया कि मुझे ज्वर है, आज और क्षमा करें।

संयोजकजी से कहा कि मेरे पहुंचाने का प्रबन्ध शीघ्र करें। वह जैसा कि प्राय: होता है, हां-हां कह कर इधर-उधर खिसक गए। तभी किसी ने एक पर्चा मुझे थमा किया। लिखा था—"कृपया मंच से उतर आएं आप से कुछ काम है—जरूरी "भेजनेवाली, का नाम था सरोज। किसी सरोज से मेरा परिचय हो—याद नहीं आया। फिर भी कौतूहल वश डगमगाता-सा नीचे उतरा, तो फौरन एक लड़की ने बाँह का सहारा देकर कहा—"चलिए !"

मैं हतप्रभ—इस अप्रत्याशित व्वहार पर और लोग भी आश्चर्य-चकित ! परन्तु आदेश-पालन के अतिरिक्त और मार्ग भी क्या था। सहारा लिए लिए बाहर आया। कुछ पूछने के लिए मुँह खोला, तो उत्तर मिला, "बोलिए मत, चुपचाप बैठ जाइए।" और यह कहते-कहते एक कार का रदवाजा खोल, आराम से मुझे बैठा खुद 'स्टीयरिंग व्हील, पर आ बैठी। गाड़ी उसी की थी।

रास्ते में केमिस्ट के यहाँ गाड़ी रोककर: जाने क्या दवा उसने खरीदी। घर पहुंते-पहुंते बुखार खूब तेज हो चुका था। कुछ धुंधली याद है—कमरे में मुझे लिटाकर, दवा पिला कर, जाने किस वक्त वह गई। सवेरे आँख खुली तो लगा कि व्वस्था की कूंची से सारा घर बुहार गई है—सब सामान करीने से, सब चीजें साफ! सच, क्या जादू होता है स्त्री के हाथ में।

बाद की कहानी लम्बी है पर थोड़े में कही जा सकती है। कैसे मैं कविता-कविता के पीछे अपने स्वास्थ्य को चौपट किए दे रहा हूं—उसके ताने मिलते, आदमी को कैसे जिम्मेदारियाँ समझी चाहिए—उसका उपदेश मिलता। जीवन में कैसे सुधा का अविरलस्रोत्र लाया जा सकता है—इसकी मधुर कल्पनाओं को प्रकाश मिलता।

और मुझे लगता वह हजार-हजार हाथों से मुझे बाँध लेना, जकड़ लेना चाहती है; मेरे कवि को, उन्मुक्त, स्वच्छन्द पंछी को पिंजरे में डाल देना चाहती है। अन्त में उससे एक दिन कह दिया—'सरोज, तुम्हारे नेह-जतन का आभार सदा मेरे ऊपर रहेगा; परन्तु मेरे तुम्हारे मार्ग अलग हैं। विवाह करके साधारण गृहस्थ-जैसा सुखद जीवन बिताने का सौभाग्य लेकर मैं नहीं उतरा हूं। अब तुम मुझसे न मिलने आया करो, यही ठीक रहेगा।

वह सचमुच फिर मुझसे मिलने नहीं आई। मिलने गया मैं। उसका आना सम्भव जो नहीं था। घुल-घुलकर अस्थिमात्र ही तो रह गई थी। बोली—"तुम्हें इसलिए बुलाया है शील, कि कहीं मेरी मृत्यु भी मेरे जीवन जैसी ही दुखद होकर न रह जाए। असीम में विलय होने की वेला अब दूर नहीं है। पर जीवन का मोह है कि छूटे नहीं छूटता। क्यों शील, क्या सचमुच मेरे बन्धन इतने कटु हो चले थे?......"

और भी बहुत कुछ कहती रही। जीने की ललक लेकर सरोज गई, उसे क्या कभी भूल पाऊंगा मैं।

अन्त में एक बे-बसी की साँस छोड़ते हुए बोली—"अच्छा शील, आज अपनी वही कविता सुनाओ—

तूने ठुकराया है मुझको जानें कितनी बार,
वापस दान तुझे मैं देता तेरा पहली बार;
उसे मैं जीत कहूं या हार !

सरोज ने जाने में और देर नहीं करी; देर कर रहा हूं मैं। वह सब याद आता है, तो एक प्रश्न मन में रह-रहकर उठता है—काश, मैं कवि न होता ?

रामावतार त्यागी

शंकर

खुरदरे बंजर सा फर्श, भुरजी के भाड़ से चूल्हे, सहसनेत्री दीवारें भोई भैंस की तरह काली और बेडौल छत और बिना तेल की ऊंटगाड़ी की तरह चरमराता हुआ जर्जरित फर्नीचर, यह था कृष्ण भोजन भवन जिसकी शरण में मुद्दत तक भोजनालयों का त्रास सहता-सहता मैं आया था। लेकिन कृष्णा भोजनालय की इस सारी असुन्दरता और जीर्णता पर खीझ उठने से पहले मेरी नजर एक आदमी पर गई जो बंजर से ज्यादा खुर्दरा, भाड़ से ज्यादा कुरुप और फर्नीचर से ज्यादा जर्जरित था। भोजन भवन की दहलीज पर वह बैठा था जैसे जुगुप्सा का सजीव कार्टून द्वार के पास खड़ा कर दिया गया हो। भोजनालय में घुसते ही मैंने समझ लिया था कि यहां का मालिक कोई निहायत कंजूस और खून चूस आदमी होगा। खाने के वक्त भी वहां कम भीड़ देखकर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ था क्योंकि घुड़साल की शक्ल के इस भोजनालय की दहलीज पर इतने फुहड और विद्रूप लंगूर को बैठे देखकर कोई भी ऐसा आदमी जो कम से कम तीन दिन का भूखा नहीं है अन्दर आने का साहस भी मुशकिल से करेगा, खाना खाने की कौन कहे ? अन्दर आ गया था इसलिए एक दम भागना उपयुक्त नहीं था। सोचा यहीं भोजन किया जाय। पढ़ा था हिन्दुस्तान के बहुत से लोग बड़ा गन्दा खाना खाते हैं इस प्रेरणा से यह साहसिकता सर ओढ़ने को तबीयत चाही। थाली मेरे सामने थी और रोटी का कौर मेरे हाथ में। मन में पूर्वायोजित

घृणा थी इसलिए भोजन की शक्ल अच्छी होते भी उसके बारे में कोई स्वादिष्ट कल्पना करना क्षितिज के उस पार की बात थी। कौर मुह में रख कर समझ में आया मेरी परख ऊपरी थी। भोजन निहायत स्वादिष्ट था। कई महीने से ऐसा भोजन नहीं खाया था। चमकते होटलों में ठगा जा चुका था, जो कि खूबसूरत साफ और चिकने तो थे लेकिन वहां भोजन अस्वादिष्ट और अपाच्य। ऊपर का ढांचा जितना शानदार भीतर की वस्तु उतनी ही गलित, बाहर का आदमी जितना आकर्षक, अन्दर का आदमी उतना ही घृणित—सुन्दर शरीर, असुन्दर प्राण और यह कृष्णा भोजन भवन बाहर से जितना कुरूप अन्दर से उतना ही रूपवान। क्या यह विद्रूप आदमी जितना घृणित है इसका प्राण उतना ही स्निग्ध नहीं हो सकता? भोजन का रस लेता-लेता मैं ऐसी ही तुलनात्मक कल्पनायें करता रहा। भोजन करके बाहर निकल रहा था तब फिर उस वीभत्स को देख कर जुगुप्सा से भर उठा और यह विचार भी मुझे न आया कि अभी-अभी मैंने अच्छा खाना खाया था।

अब मैं बकायदे कृष्णा भोजन भवन का सदस्य बन गया था। उस आदमी की तरफ मैं कभी देखना नहीं चाहता था। पीले मेंढक सी उसकी शक्ल और फिर आंखें जैसे बाहर निकल पड़ेंगी। भला उसे मैं देखता भी क्यों। फिर भी उसे देखता था क्योंकि उससे नाफरत जो करता था।

वह बोलता कम था, सुनता भी कम था, बस बर्तन मांजते-मांजते आप ही कुछ बड़बड़ाता था। मैल का उसके कपड़ों पर क्या कहना—यों तो गरीबी खुद एक बड़ा मैल है जो वस्त्र और आदमी दोनों को पूरी तरह से मैला रखती है, लेकिन इस औघड़ के लिए बाजार में साबुन बिकना और नल से पानी आना दोनों बन्द थे।

एक दिन मैं खाना खा रहा था। वह पानी का गिलास लाया था। गिलास रखते हुए उसके हाथ को मैंने देखा मैल से, काला था। गिलास को देखा उसके किनारे के नीचे की रेखा में चारों तरफ काला काला

मैल भरा हुआ था। एक तरफ अरहर की दाल का एक बीज पिसा हुआ चिपक रहा था। गिलास रखकर जैसे ही वह मुड़ा मैं उसके फहड़पन पर तिलमिला उठा और एक झुंझलाहट के साथ गिलास मैंने उसके ऊपर फेंक मारा। गिलास का किनारा उसके पैर पर बैठ चुका था। खून उसके पैर से निकलता रहा, वह खामोश खड़ा रहा। कहा उसने कुछ नहीं, बस एक नजर भर मुझे इस तरह देखा जैसे किसी शरीर बच्चे की शैतानी को सौ वर्ष का परदादा मजे से देखता है। खून को देखकर मेरा क्रोध ठंडा पड़ गया था। एक क्षण को मुझे लगा—"मैंने बुरा किया है।" उसकी आंखों में मैं देखता रहा, उन में शिकायत नहीं थी, क्रोध भी नहीं था पर दया भी नहीं। बस कोरा व्यंग था—अट्टहास था। एक क्षण को दया आई थी तुरन्त ही घृणा की विकृति से भरा उठा। उसके खून को देखकर मैंने सोचा कि गिलास इस मरे हुए आदमी को न मारकर थाल उठाकर इसके तोंदल मालिक की पिलपिली खोपड़ी पर मार देना चाहिए था जिस की कंजूसी ने इस विद्रूप मानव को दंड के रूप में हम पर लाद कर दिया था।

शाम को फिर भोजनालय में भोजन करने की इच्छा से बैठा था। सुबह की घटना याद थी इसलिए चुपचाप बैठा दीवार पर टंगे कैलेंडर में कैलाशपति शंकर के चित्र को देख रहा था। उसी से मन लगाए था। मालिक ने आवाज दी—"शंकर। गिलास ठीक से माँजकर बाबूजी को पानी-वानी देना।" मेरा ध्यान टूट गया। शंकर---इस हैवान का नाम शंकर। न जाने दुनियां वाले भी क्या सोच समझ कर महापुरुषों के नाम से ऐसे वनमानसों को संबोधित करने लगते हैं। भगवान शंकर का आत्म-तेज और मानव मात्र के प्रेम से आप्लुत प्राणवान हृदय और यह अंधकार का मौसेरा भाई—जब लोग इसे शंकर कहकर पुकारते हैं कैसा फूलता है मरदूद—मर क्यों नहीं जाता। उस वक्त गिलास मारने की बात पर मेरे मस्तिष्क ने मुझे विश्वास देकर कहा था—गिलास तुमने नहीं, शंकर ने तुम्हें मारा था।" और अगर मुझे अपने गांव के उस

कुम्हार की बात याद कर, जिसने अपने दोनों लड़कों का नाम जवाहर-लाल और गोविन्द वल्लभ रख छोड़ा था, हंसी न आई होती तो मैं उस तोंदल मालिक से भिड़ गया होता जो अपना काम मुफ्त में चलाने के लिए इस गन्दे शंकर को हम पर लादे हुए था।

खाना खाते एक सप्ताह हो गया था। कुछ अपने जैसे लापरवाहों से परिचय भी हो गया था। एक परिचित सज्जन से जो दो साल से वहाँ खाना खा रहे थे मैंने शिकायत के तौर पर कहा—"आप लोग इतने दिनों से यहां खाना खाते हैं लेकिन इस बीभत्स आदमी को आप लोग बर्दाश्त कैसे करते रहे हैं ?"

"शंकर आदमी बहुत मजेदार और अच्छा है—"उन्होंने ने उत्तर दिया।

मैंने कहा—"माफ कीजिये, मेरी आप से बहुत बेतकल्लुफी तो नहीं है फिर भी कहूंगा कि आप को (aesthetic sense) सौंदर्य भावना का बोध नहीं है।

परिचित उम्र में मुझ से कुछ, बुजुर्ग थे इसलिए बिगड़े नहीं बोले—"आप शंकर को नहीं जानते, जान भी नहीं सकते। वह कुछ पागल-सा है। उसका जीवन प्रवाह बहुत बड़ी ऊबड़-खाबड़ और दर्दीली परिस्थितियों से गुजरा है। समाज के जुल्म का वह शिकार है।"

"समाज को हम सभी बदनाम करते हैं—मैंने भड़क कर कहा।"

उनकी बात जारी थी—"जिस की माँ अपने मित्रों को घर लुटा बैठे, बीवी को रिश्तेदार बेच कर खा जायें, दस साल नौकरी करने पर भी बीमारी में इलाज के लिए जिसे दो पैसे न मिले उस आदमी के चेहरे पर संघर्ष की रेखायें नहीं होंगी तो क्या सुकुमारता और स्निग्धता होगी। जनाब, शंकर में अब न उल्लास है, न विषाद, न स्नेह की भावना है न घृणा की, वह भविष्य की कल्पनाओं से भी उदासीन है और वर्तमान की कठोरता से भी। और घृणा और प्रेम दोनों से निर्लिप्त आदमी तो केवल पागल ही हो सकता है आप उसे प्रसन्न हैं, तो

उसे क्या ? अप्रसन्न हैं तो उसे क्या ?'

परिचित सज्जन की बात सारवान थी। मुझपर उसका असर भी हुआ पर शंकर की गन्दी और कुरूपता को मैं प्यार कर सकूं—यह मेरी कल्पना से परे की बात थी।

एक दिन नौकरी देर से खत्म हुई थी। पास में कई होटल थे पर महीने का अन्त था जब मेरे जैसे बाबुओं की जेब सिर्फ चार अंगुल का सिला हुआ कपड़ा होती है। भूख से परेशान था। फिर ऊपर से आग बरस रही थी। बदहवास सा भोजन भवन में आ पहुंचा। रास्ते में रही निराशा से भर रहा था। भोजनालय में घुसते ही देखा पतीले और परात सब नल के पास लुढ़क रहे थे, बिल्कुल खाली, मेरी जेब की तरह। एक थाली में रोटियां और साग लगे रखे थे और शंकर अपने हाथ धोकर थाली की ओर जा रहा था, थाली उसी की थी। उसने मुझे नजर भर कर देखा, मेरी निराश आंखों को देखा, मुरझाये हुए चेहरे और उदास लौटते पैरों को देखा।

"खाना नहीं खाओगे बाबू"—वह पहली बार मुझ से बोला। उसके कंठ में सहानुभूति थी। इस व्यवसाय की नगरी में इतनी हमदर्दी से कोई रोटी छीनता भी नहीं है।

"भूख तो लगी है पर रोटी है कहां ?" मैंने उसकी नजर से नजर बचा कर कहा।

मैं बैठ गया था और उसने वही भोजन की थाली लाकर अपने उन्हीं हाथों से मेरे सामने रख दी बगैर यह सोचे कि अगर गिलास की तरह थाली भी मैंने उसके ऊपर फेंक मारी तो वह फिर खून से नहा उठेगा। भूखा वह भी था। थाली की जली भुनी रोटियां और सूखी हुई सब्जी इस बात को कह रही थी कि शंकर के अलावा और किसी से उनका संबंध नहीं था। पर उसके चेहरे पर भूख की अलामत नहीं थी। मैंने शिष्टता से कहा—"शंकर यह खाना तो तुम्हारा है। इसे मैं नहीं खाऊंगा।" "नहीं भैया यह तो तुम्हारी ही थाली है मैं तो आप की

ही राह देख रहा था।"—शंकर करुणार्द्र हो उठा था।

मैं जानता था कि वह झूठ बोल रहा है फिर भी उसका 'मन रखना चाहिये' इस बहाने खाने लगा। मैं खाता जाता था और बीच बीच में उसके चेहरे को मनोवैज्ञानिक की तरह पढ़ता था। वह खिल उठा था, उसे सुख मिल रहा था। बात छोटी थी केवल एक समय के भोजन की, लेकिन देना छोटा नहीं होता वह बहुत महान होता है इसी-लिए हर आदमी दे नहीं पाता। खा चुकने के बाद डकार लेकर मेरे आपे ने मुझे बताया उस दिन गिलास शंकर ने नहीं, मैंने शंकर का मारा था।

तब मैंने शंकर का खाना खाया था और शंकर ने मेरी नफरत। फर्क यह था कि मैं भूख मिटाकर भी भूखा ही था और वह भूखा रह कर भी तृप्त था।

रात को घूमने के लिए निकला था। भोजनालय के सामने से गुजर रहा था। उसी दहलीज पर बैठा शंकर चाय छान रहा था। मैं उसे देखकर कुछ रुक गया था।

"चाय पिओगे बाबू?" मुझ से बोला

सिर्फ "नहीं" कहकर मैं उन सज्जन से बात करने लगा जो उस दिन शंकर को मजेदार आदमी कह रहे थे। नहीं पीयेंगे—उसने धीरे से दोहराया जैसे दर्द का पहाड़ फुसफुसाया हो पर मैंने अनसुना कर दिया। मेरा विचार है उसे बुरा लगा था। वह मेरी घृणा से नहीं हिला था, उपेक्षा से कांप गया था। बात करते—करते मैं देखता रहा कि शंकर ने बगैर पिये ही सारी चाय नाली में बहा दी थी और बीड़ी जला कर जूठे बर्तनों के पास बैठा हुआ वह अंधकार में देख रहा था—कुछ सोच रहा था।

भूटपुटे में खाना खाने भोजन भवन की ओर आ रहा था। रास्ते में एक दूकान के तख्ते पर बैठे एक लंगड़े भिखारी के पास शंकर को खड़े पाया। वह एक मैले कपड़े से खोलकर उसे कुछ दे रहा था।

रोटियां थीं। शंकर मुझे देखकर कुछ सक का सा गया। चलते हुए मैंने पूछा—

शंकर कौन था वह लंगड़ा ?

"लंगड़ा था"—शंकर ने संक्षिप्त कहा।

"अगर मैं तेरे मालिक से यह बात जाकर कहूं तो"—

"तो उस बेचारे को रोज भूखा रहना पड़ेगा।"

उसके साथ क्या गुजरेगी इसका ध्यान भी उसे नहीं था। उसे उस अपरिचित लंगड़े की फिक्र थी। पता चला शंकर काफी दिनों से लंगड़े को नियमित रूप से रोटियां पहुंचा रहा था। सोचता रहा इस पागल शंकर के कुरूप शरीर में इतनी स्निग्ध प्राण क्यों है। इसके साथ दुनियां ने क्या भला किया है जो दुनियां भर के दुखियों के लिए यह मरा जाता है।

सर्दी आ गई थीं। और इधर खोजते खोजते दूर के एक मुहल्ले में मुझे मकान भी मिल गया था। शंकर के पास कोई गर्म कपडा नहीं था इसलिए मकान मिलने की खुशी में उसके लिए एक कम पैसों की ऊनी जरसी खरीद कर लाया था। भोजन भवन पहुंच कर देखा शंकर कोयले वाली कोठरी में फटा कंबल ओढ़े लेटा था। कुछ बीमार था। जरसी देते हुए मैंने कहा—"शंकर, तेरा भोजन-भवन छोड़कर जा रहा हूं यह जरसी तुझे दोस्ती के तौर से दे रहा हूं एक दो दिन में तुझे देखने भी आऊंगा।"

जरसी उसने सिराहने रखली थी। मैं चलने को हुआ तो बोला—"बाबू'—

"क्या है शंकर?' मैंने पूछा।'

वह चुप हो गया था। कुछ सोच रहा था। मेरे पूछने पर बोला—"आज लंगड़ा भूखा ही रहेगा।"

"मरने दे उस लंगड़े को। तू अपनी बीमारी की फिक्र कर"—मैं झुंझला कर बोला। वह चुप हो गया और मैं वहां का हिसाब-किताब

चुका कर नए मकान में चला आया।

× × ×

कोई बीस दिन बाद याद आया शंकर बीमार है। दोस्त को देख आऊं।

भोजन-भवन पहुंचकर देखा, उस जरसी को पहने दूसरा आदमी बर्तन मांज रहा था। शंकर ने मेरी जरसी दूसरे को देकर मेरा अपमान किया था इसी तुनक से झुंझलाकर मैंने मालिक से पूछा—"शंकर कहाँ है पंडित जी।"

मालिक मेरी आवाज सुनकर कुछ उदास-सा होकर बोला—"बहुत दिन बाद आये बाबू! शंकर आपको बहुत पूछता था।"

"पर शंकर है कहां?"—मैंने उतावलेपन में पूछा।

'शंकर तो दस दिन हुए मर गया बाबू!" आह लेकर मालिक ने धीरे से कहा—

शंकर मर चुका था दस दिन पहले और मैं दस दिन बाद सकी खबर लेने आया था। मेरा मन अपने प्रति ग्लानि से भर उठा। नए मकान की खुशी में मैं यह भी भूल गया था कि शंकर बीमार था और शंकर बीमारी में भी यह न भूला था कि उस नंगड़े को रोटी नहीं मिलेगी। आज फिर कलेंडर में भगवान शंकर के चित्र को देखता रहा। आज उस मरे हुए उपेक्षित शंकर और चित्र के पीछे छिपी हुई भावना के शंकर का तादात्म्य हो गया था। काश एक बार और शंकर को देख पाता तो उसके खुरदरे चरणों को अपने आंसुओं से धोकर कहता—"अपने रूपवान हृदय की एक धड़कन ही मुझे उधार दे दो, तो अपने को धन्य समझूं।"

रामानन्द 'दोषी'

यात्रा का अन्त

नीचे स्कूल की बस ने आकर हार्न दिया। मुकुल और मीना ने अपनी किताबें बगल में दबाईं और भाग उठे। मंजु ने तेज डगों से आकर खिड़की खोली और नीचे झांकने लगी। दोनों बच्चे तब तक गाड़ी के पास पहुंच चुके थे। झपट कर उसमें चढ़ने से पहले उनकी नजरें ऊपर उठीं और तीनों के मुंह पर मुसकान खेल गई।

"मम्मी, टाटा !" दोनों बच्चों ने नन्हें-नन्हें हाथ हवा में हिलाते हुए कहा। मंजु की अलस हथेली हवा में लहराई और बस घर्र-घर्र करती बढ़ गई।

कुछ देर वह वहीं खड़ी सड़क की ओर यों ही देखती रही। पति पहले ही दफ्तर जा चुके थे। कल रविवार है—सब की छुट्टी का दिन। पिकनिक की बात तय हो चुकी है। कल सारा परिवार—पति और दोनों बच्चे—सारे समय उसी के साथ रहेंगे और वह किसी बड़े पक्षी की तरह अपने डैनों में उन्हें संरक्षण दिए उनकी गरमाहट महसूस करती रहेगी। एक भीनी सरसराहट उसे अपनी नसों में सरसराती प्रतीत हुई। अन्तर का संतोष अनजाने ही होंठों पर हलका सा विहंस उठा।

खिड़की बंद करने के लिए दोनों पल्लों पर उसके हाथों की पकड़ जरा शिथिल हो आई। परन्तु थोड़ा पीछे हट कर पल्ले बंद करते करते ज्यों

ही उसकी दृष्टि सामने वाले मकान पर पड़ी वह सन्न रह गई । एक क्षण को जैसे उसे काठ मार गया । फिर किन हाथों से उसने खिड़की बंद की और किन पैरों से सोफे पर आकर धम से गिर पड़ी—यह उसे खुद नहीं मालूम ।

सामने वाली खिड़की में वही खड़ा था...वही... अदित, बाल खूब अस्तव्यस्त, चेहरा पहले से बहुत उतरा हुआ, आंखें कहीं गहरे में धंसी हुईं परन्तु उन पर वही पहने वाला काले फ्रेम का चश्मा और उस में से झांकता हुआ वही पैना पन । सूखे सूखे होंठ, परन्तु वैसे ही भिचे भिचे, मानो कहने को बहुत कुछ हैं परन्तु वे खुलेंगे नहीं, कुछ कहेंगे नहीं ।

और यह जो अदित, दस लंबे वर्षों के बाद आज सामने वाली खिड़की पर खड़ा है, अनजाने में यहाँ नहीं आ गया है, क्योंकि अपलक दृष्टि से वह उसे ही देख रहा था । अचानक और अनपेक्षित मिलन से उत्पन्न विस्मय और कुतूहल का भाव उधर नहीं था, और न था अपनी ओर से आगे बढ़ कर अपनी उपस्थिति का परिचय देने का औत्सुक्य ।

तब इस नए शहर में अपरिचित स्थान पर, इतना सब पता लगाते लगाते, सब कुछ जानबूझ लेने के बाद वह आज क्यों यहां है ? आखिर क्यों वह इस तरह वहां खड़ा है, देख रहा है ?

मंजु को लगा मानो उसकी पैनी दृष्टि दीवार की ईंटों और किवाड़ों की लकड़ी को पार कर उसी पर जमी हुई है । उसका सिर चकराने लगा । दोनों हाथों से माथा थाम कर वह सिसक उठी ।

दस वर्ष पहले की वह बात है । मंजु तब बी० ए० में पढ़ती थी । अभिमानी पिता की लाड़ली बेटी, कक्षा में प्रथम आने वाली अप्रतिम रूपवती मंजु पर लक्ष्मी, सरस्वती और विधाता ने सम्मिलित रूप से मुक्तहस्त हो कर अपने कोष लुटाए थे । वह कितनी भाग्यवान है, इसे मंजु अच्छी तरह जानती थी । परन्तु इस देन को उसने गर्वित हो कर नहीं, अपितु साभार ग्रहण किया था ।

कालिज की हिन्दी परिषद की वह मंत्री थी । उस रात परिषद की

ओर से एक कवि सम्मेलन का आयोजन था। नगर के ही कोई दस बारह कवि आमंत्रित थे। मंजु के मंत्री होने के नाते टीमटाप स्वभावतः पर्याप्त मात्रा में थी।

सम्मेलन धीरे धीरे रंग पर आता जा रहा था कि मंच पर सहसा हलचल सी होने लगी मंजु ने पीछे फिर कर देखा। सिल्क का कुरता, चौड़े पांयचे का पायजामा, आंखों पर काले फ्रेम का चश्मा, छरहरा सजीला बदन, मुख पर साधना का गांभीर्य और सारल्य का सम्मोहन—इसी अपरिचित युवक को बड़े समादर से आगे मंच पर आने का आमन्त्रण दिया जा रहा था।

"कौन हैं यह ?" मंजु ने धीरे से सभापति से पूछा।

"अरे ! इन्हें नहीं पहचानतीं—श्री अदित।"

मंजु तपाक से उठ खड़ी हुई। प्रसन्नता से उसका मन नाच उठा। अदित जैसे ख्यातिप्राप्त कवि को अपने आयोजन में आया देख कोई भी संयोजक धन्य हो उठता। जल्दी जल्दी पैर बढ़ाती वह अदित के पास पहुंच गई।

"नमस्ते !"

"नमस्ते !"

"जी, मैं...जी...,आप..."

"मैं अदित हूं। किसी ने आप ही की ओर संकेत किया था—आप संभवतः संयोजक हैं आज के इस सम्मेलन की ?"

"जी...,हां, जी...,आप...,"

अरे आप इतना बोखला क्यों गई हैं ? इतना हौवा जैसा तो शायद मैं नहीं लगता हूं। आप को यहां मेरी उपस्थिति पर आश्चर्य हो रहा है न ? देखिए, बात यह है कि आपके इस नगर में किसी निजी काम से मैं आया था। काम खत्म हो गया परन्तु वापसी के लिए गाड़ी तो सवेरे से पहले मिलेगी नहीं। समय काटने की समस्या को सुलझाने के लिए सिनेमा का सहारा लेना सोचा था कि आपके इस कवि सम्मेलन

का पोस्टर नजर पड़ गया। सो चला आ रहा हूं।"

"असीम अनुग्रह है आपका।" मंजु का कण्ठ अब फूटा। "धृष्टता तो होगी, परन्तु मेरा अनुग्रह है कि आपको कुछ न कुछ हमारे यहां आज पढ़ना अवश्य पड़ेगा।"

"आया हूं तो क्यों न पढ़ूंगा। यह मैं भी..."

"एक मिनट के लिए क्षमा करें, मैं अभी आई।"

दूसरे क्षण मंजु माइक पर पहुंच चुकी थी। उसकी प्रसन्नता का वारापार न था। कांपते हाथों माइक को थाम कर घोषणा की।

"आज हमारे इस कालिज का ही नहीं, अपितु सारे नगर का सौभाग्य है कि हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठत कवि श्री अदित हमारे बीच विद्यमान हैं। संयोजिका के नाते मुझे गर्व है कि इस सम्मेलन को उनकी पग धूलि प्राप्त हुई। उनके प्रति परम आभार के साथ मैं हर्ष से गद्गद होकर यह घोषणा करती हूं कि थोड़ी देर में आपको उनकी रचनाएं सुनने का सौभाग्य प्राप्त होगा..."

शेष वाक्य तालियों की गड़गड़ाहट में डूब गया। अदित के पास आ कर उसने कहा, "अब पहले यह बतलाइए कि आप पिएंगे क्या?"

"कौफी। मगर यहां नहीं, बाहर किसी रेस्तरां में बैठ कर।"

कौफी बना कर प्याला उसकी ओर सरकाते हुए मंजु ने कहा, "अदित जी किस मुँह से धन्यवाद दूं मैं आज आप को!"

धन्यवाद की कोई बात है—ऐसा तो मैं समझता नहीं। कविता हृदय में उभरती है, तो लिख लेता हूं। मेरा आशय है बन तो वह स्वयं जाती है, मैं तो उसे कागज़ पर उतारने भर का परिश्रम करता हूं, जिसके बदले प्रकाशकों से रायल्टी मिल जाती है और कवि सम्मेलनों से नजराना। फिर धन्यवाद की गुँजाइश ही कहां रहती है!"

मंजु की कौफी का स्वाद सहसा जैसे कड़वा हो उठा। किसी तरह उसे गले के नीचे उतार कर बोली, "जी, हमें तो आभारी होना ही चाहिए। हम पर तो कृपा ही की है आपने।"

"देखिए आभार आप मानें—वह आपकी विनय है; धन्यवाद आप दें—वह आपका सौजन्य है। मैं तो केवल अपने नियम की बात कह रहा था कि बिना पारिश्रमिक लिए न मैं अपनी कोई कृति प्रकाशित होने देता हूं और न कहीं कुछ पढ़ता हूं। नियम तो, आप जानती हैं, नियम ही है। वह है ही इसलिए कि उस का पालन हो। मगर आप कौफी पीजिए न, ठंडी हुई जा रही है।"

अशिष्टता की भी कोई सीमा होती है! क्रोध और क्षोभ से मंजु का चेहरा लाल हो आया। दूर से ऐसा प्रभावक व्यक्तित्व पास से ऐसा ओछा भी हो सकता है—यह उसने आज जाना। प्याले की ओर झुकते हुए, गरदन थोड़ी टेढ़ी करके, भौंह जरा चढ़ा कर उसने पूछ लिया। "और आपका नजराना?"

"वह अधिक नहीं है सिर्फ दो सौ रुपए।"

"और यदि वह आपको न मिले?"

"तो मैंने कहा न कि मैं इतना पारिश्रमिक लिए बिना कहीं कविता नहीं पढ़ता।"

"तो जहां आप कविता नहीं पढ़ेंगे, उन स्थानों की सूची में हमारे नगर का नाम भी लिख लीजिए, मिस्टर अदित।"

वह हो हो कर हंस पड़ा। "सो तो लिख लिया, परन्तु आप इतनी नाराज क्यों हैं?"

"इसलिए कि मैं मनुष्यता को कविता से कहीं ऊंची चीज समझती हूं। आप कवि चाहे जितने बड़े हों, अदित जी, परन्तु मनुष्य आप बहुत छोटे हैं। छात्र परिषदों के पास पैसे की क्या स्थिति होती है यह आप न जानते हों—ऐसा नहीं है। हमारे पास पैसा होता तो शायद आप को यों बिना बुलाए आने का कष्ट न करना पड़ता। तब तो हम आप को सादर निमंत्रित कर के लाते। यह सब जानबूझ कर ऐसी मांग रखने वाले के प्रति आदर क्या रह सकता है? मैं चली। बिल काउंटर पर देती जाऊंगी।" मंजु उठ खड़ी हुई।

"अरे, बैठिए न। इतनी भी क्या आतुरता! एक बात शायद आप समझीं नहीं, इसी से नाराज हो कर एक दम चली जा रही हैं।"

आशा की एक किरण फिर झलक उठी। मंजु ने बैठते बैठते कहा : "वह क्या ?"

वह यह कि अपने बारे में मुझे और चाहे कुछ न ज्ञात हो, इतना अवश्य मालूम है कि लोकप्रियता का मैंने खूब अर्जन किया है। एक बार यह बताने के बाद मैं कविता पाठ करूँगा, अब यदि आप यह घोषणा करेंगी कि अदित चाहे कवि जितना बड़ा हो मनुष्य वह बहुत छोटा है, इसलिए हम उससे कविता पढ़वाने में असमर्थ हैं—तो आप जानती हैं क्या होगा ? कालिज का हजारों का फरनीचर टूटेगा और आप शरम के मारे मुँह न दिखा सकेंगी।'

परिस्थिति की विषमता मंजु के ध्यान में अब आई। उसने आँखों में आंखें डाल कर पहली बार अदित को देखा। आंखों में लाज की डोरी नहीं, चेहरे पर कहीं कुटिलता की कालिमा नहीं, और स्वर में कहीं नीचता का आभास नहीं—उफ, कितना बड़ा पाखंडी है यह अदित! ऐसी ओछी बातें कितने सहज भाव से कहे चला जा रहा है!

मंजु की असहायता घनी हो आई। स्वर रुआंसा हो गया : "निरे पशु हो तुम ? निकट से क्या ऐसा ही बीभत्स रूप है तुम्हारा ? मुझे लाचार देखकर तुम क्यों दबाना चाहते हो ? मैंने कहा न कि परिषद के पास नहीं है इतना धन।"

"परिषद के पास न हो, तुम्हारे पास तो हो सकता है। बड़े बाप की बेटी हो—दो सौ तो बहुत मामूली सी रकम है तुम्हारे लिए।" अदित ने सिर झुकाए झुकाए निर्लिप्त भाव से कहा।

मंजु बुरी तरह झल्ला उठी : "बड़े बाप की बेटी हूं तो मुझे ही न ले जाओ उठा कर!'

चिहुंक कर अदित ने सिर उठाया, गहरी होकर आंखों से आंखें मिलीं और वह देखता रह गया।

मंजु ने अनुभव किया कि उस काले फ्रेम के चश्मे की ओट में जो पैनी-पैनी आँखें हैं, वे ही हैं उस के व्यक्तित्व की विशिष्टता। उस दृष्टि का तेज उस से सहन न हो सका। पलकें नीचे झुक गईं। मन में बराबर हो रहा था : "हाय, यह क्या कहा मैंने ! हाय, राम...मैं यह क्या कह बैठी !"

उस अविचल मौन का क्षण क्षण युगों सा बीत रहा था। बिना ऊपर देखे ही मंजु ने जान लिया कि वे पैनी आँखें उसी पर जमी हैं—अलपक, निर्निमेष, अविचल...मौन टूटा।

परन्तु यह किस का स्वर है ? उसका तो निश्चित रूप से नहीं है जो सामने बैठा अभी तक बातें रहा था। इसमें जो गूँज है वैसी तो कंठ से निकले स्वर में होती नहीं। ऐसा स्वर केवल हृदय से फूटता है। स्वर में एक अनिवार्य बाध्यता थी, एक अकाट्य सम्मोहन : "तुम्हें ! अच्छा, तुम्हें भी लेने आऊँगा। एक दिन जरूर आऊँगा, मंजु—भूलना नहीं।"

उस एक क्षण में न जाने कौन कहाँ से आ कर बता गया कि यह है अदित जो वास्तविक है, जो कवि है—बाकी का जो मनुष्य अदित है, जो प्रतीत है वह धोखा है, उसका आवरण मात्र है - कठोर और दुर्भेद्य !

परन्तु यह प्रतीत निमिष भर ही रही होगी कि तभी एक दूसरी आवाज सुनाई पड़ी वही पहले वाली परिचित आवाज, मनुष्य अदित की आवाज : "परन्तु आज नहीं। आज तो रुपए लेने आया हूं। दो सौ रुपए—सम्मेलन का पारिश्रमिक।" यह था वाक्य का उत्तरार्द्ध।

सम्मोहन टूट चुका था। "यू ब्रूट !" मंजु के मुँह से निकल गया। पर्स खोल कर उसने दो सौ का चैक काट दिया। "कमीना कहीं का !" वह मुँह ही मुंह बुदबुदा रही थी।

"चाहें तो यह सब जोर से भी कह सकती हैं। मुझे इस तरह की बातें सुनने की आदत है।" वह फिर हंस पड़ा कैसी ढीठ हंसी थी वह !

फिर एक दम उठ खड़ा हुआ : "चलिए, आपके सम्मेलन में मेरी प्रतीक्षा हो रही है।"

यह था प्रथम परिचय, जो मंजु के जीवनपथ को शिला के समान घेर कर बैठ गया। पढ़ने बैठती तो किताबों की काली काली पंक्तियां सहसा जाने किस जादू से वृत्ताकार हो उठतीं। फिर एक वृत्त के दो वृत हो जाते, ठीक उस चश्मे के काले फ्रेम के आकार के और उनमें से उभर आतीं दो पैनी पैनी आँखें।

आसपास का कोलाहल जाने कौन से मंत्र से एक गहन नाद हो उठता, जिस की गूंज से एक स्वर निखर आता : "तुम्हें ! अच्छा, तुम्हें भी लेने आऊँगा। एक दिन जरूर आऊंगा, मंजु—भूलना नहीं।"

फिर वह स्वर और वह दृष्टि जाने किस अज्ञात अंतर को कुरेद देती कि आंखों की कोरें सजल हो आतीं। मिनिट बीतते, फिर घंटे। कई कई दिन बीत जाते। और उन निगाहों में खोई, उन स्वरों में भूली मंजु जाने कहां कहां भटकती रहती...भटकती रहती।

फिर कहीं से एक दूसरी आवाज आती—उच्छृंखल आवाज "परन्तु आज नहीं। आज तो मैं दो सौ रुपए लेने आया हूं—सम्मेलन का पारिश्रमिक।"

सम्मोहन टूट जाता। वह बुदबुदा उठती : "ब्रूट"

यह दूसरी आवाज मंजु का सबसे बड़ा सहारा थी। इसकी याद को वह कुरेद कुरेद कर ताजा रखती। यही तो थी उस सम्मोहन की काट। कभी उस का मन कृतज्ञता से भर आता; "कैसे मायावी हो जी तुम ! इतने गहरे आवरण में न छिपे रहते तो तुम्हारा तेज कैसे सहन होता ! एक क्षण को तुम ने परदा उठाया था, बस एक बात कही थी—उसी की मारी मैं तड़प तड़प उठूंगी, यह जान कर ही तो इतनी गहरी कटु स्मृतियाँ छोड़ गए हो। लेने आने को कह कह तुम आए जो नहीं—इसका भार तुम्हारे बल पर ही तो वहन कर रही हूं।"

मंजु प्रतीक्षा करती रही, परन्तु दिन, मास और वर्ष प्रतीक्षा में

ठहरे न रह सके, कालिज में अब उन की वह धाक न रही, फाइनल में फेल हो गई थी, स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया, घर में वह हर किसी से उलझ बैठती. लू के एक ही झोंके ने बाहर को जुलसा दिया था, उसकी खीझ बराबर बढ़ती जा रही थी, अदित से भी अधिक झुँझलाहट थी उसे अपने ऊपर।

तभी एक दिन उस के नाम एक पार्सल आया, अदित ने भेजा था। ढेर सी कविताओं की पाँडुलिपियाँ थीं उस में, एक दो पुस्तकों की योजना भी थीं, साथ में एक पत्र था—बहुत ही संक्षिप्त—"एक डकैती के सिलसिले में पुलिस मेरे पीछे है, आँखमिचौनी के इस खेल में पकड़ा अतत: मैं ही जाऊंगा, ये रचनाएं तुम्हारे पास सुरक्षित रहेंगी—इस आशा से भेज रहा हूं।"

तो अदित डाकू भी है! घृणा से मंजु का मन भर गया, एक क्षण के उस स्वर का सम्मोहन अब पूर्णत: तिरोहित हो गया। बड़ी ग्लानि हो गई अपने ऊपर।

इधर बहुत दिन से विवाह के लिए वह पिता के आग्रह को टालती आ रही थी, आज उसने स्वीकृत दे दी, विवाह के बाद मंजु ने पति के जीवन में अपने को पूरी तरह घुला दिया, वैसे भी ऐसा घर वर हर किसी को नहीं मिलता, पति का संपूर्ण प्यार उसे मिला था और अपना संपूर्ण समर्पण उन्हें किया था।

एक दिन पति ने बड़ी हड़बड़ी में सवेरे ही सवेरे मंजु को जगाया: "सुनती हो! बलराज गिरफ्तार हो गया।"

आँख मींजते-मींजते मंजु घबराई सी बोली: "कौन बलराज! क्या क्रांतिकारी बलराज? अखबार जरा मुझे दीजिए, देश का कैसा दुर्भाग्य है!"

रहस्यमय बलराज, जिस ने विदेशी सरकार के नाकों दम कर रखा था, सभी के लिए एक रहस्य था, वह कौन है, कहाँ का है, कैसा है—यह किसी को भी पता न था, अखबार में उस का समाचार भी था और

चित्र भी, चित्र देखकर मंजु सन्न रह गई, बलराज और कोई नहीं अदित था।

एक बड़ा गहरा धक्का उसे लगा, आज समझ में आया कि क्यों अदित को उस दिन रुपयों की इतना सख्त जरूरत थी और किस डकैती में पुलिस उस के पीछे थी, पूरे हुए घाव एक बार फिर हरे हो आए, शिथिल टीसें फिर उभर उठीं, परन्तु अब तीर कमान से निकल चुका था, हाय, अदित ! तुमने काश तनिक सा भी आभास अपनी साधना का दिया होता !

अब तो वह बात भी बहुत पुरानी हो चुकी थी, मंजु अब दो प्यारे प्यारे बच्चों की माँ थी, जीवन के नूतन अध्याय को उसने आत्मसात कर लिया था···।

विगत की स्मृति नहीं, अनागत की प्रतीक्षा नहीं, केवल वर्त्तमान का स्वीकृति—संभवतः जीवन का यही दर्शन मुक्ति का मूलमंत्र है, फिर आज यही अदित यहाँ क्यों है—क्यों वह आज उसके जीवन में फिर से कांटे उगाने आया है ?

वह उठ खड़ी हुई, न चाहते हुए भी उस ने किवाड़ की संधि में से झांक लिया, वह वहीं, उसी मुद्रा में उसी ओर देखता खड़ा था, क्यों खड़ा है वह ऐसे ? कब तक खड़ा रहेग ? कब से खड़ा है ? अच्छा, खड़ा रहे—''मंजु उसकी उपेक्षा कर देगी। वहां से वह हटा आई।

पर अब ? अब क्या करे ? किसी काम में तो मन नहीं लगता। पैर तो बरबस खिड़की की ओर खिचते हैं। आंखें तो उस संधि पर लगी है, आखिर यह क्या है ? क्या है यह सब ? नहीं इससे सहन नहीं हागा — इसका फैसला किए बिना वह आखिर जिएगी कैसे !

एक झटके के साथ वह उठ खड़ी हुई, पैरों में चप्पल डालीं, जीने तक पहुंची, फिर कुछ याद आया, लौटी, अलमारी खोली, पति का रिवाल्वर निकाला, गोलियां भरीं, सेफ्टी कैच चढ़ाया और उसे आंचल में छिपा कर नीचे उतर आई।

सामने वाले मकान के दरवाज़े पर दस्तक देने को उसने हाथ उठाया ही था कि वह खुल गया, सामने वही था।

"आओ, अन्दर आ जाओ।" उसे अन्दर लेकर द्वार बन्द हो गया—"इधर से आओ, मेरे पीछे-पीछे।"

ऊपर पहुँच कर एक कमरे में वह घुसी तो खटके की आवाज सुन मुड़ कर देखा, दरवाजे में ताला डाल कर वह चाभी को जेब में रख रहा था।

मंजु के नथुने जरा फैल गए, होंठो की कोरें थोड़ी दब गई, रिवाल्वर को उसने और भी कस कर पकड़ लिया और छिटक कर दूसरे कोने में जा खड़ी हुई।

हंस कर वह बोल उठा—"बहुत डर लगता है क्या ?"

मंजु चुप।

"फिर आई ही क्यों थीं ?"

अब इस बात का भी कोई जबाब हो सकता है !

"परन्तु मैं जानता था कि तुम जरूर आओगी। तुम तो शायद भूल गई हो, मंजु, कि मुझे भी एक दिन लौट कर आना था।"

मँजु की ओर से इसका भी कोई प्रतिकार नहीं किया गया।

"हमारी नई आजाद सरकार ने रिहा कर दिया हैं। और अब मैं आ गया हूं।"

मंजु का कंठ इस बार फूटा—"क्यों आए हो आज तुम ?"

"मैंने वचन जो दिया था कि एक दिन तुम्हें लेने जरूर आऊँगा।"

"और जो मैं न चलूं ?"

हंसते हुए वह बोला—"तुम ने चलने को कहा ही कब था ? तुम ने तो उठा ले जाने के लिए की बात कही थी।"

"ओह ! तो तुम उठा ले जाने के लिए आए हो—भला कैसे ?"

"बहुत मामूली बात हैं......" अदित उसकी ओर बढ़ा।

"अदित, वहीं खड़े रह कर बात करो, यह देखते हो—सात गोली

वाला रिवाल्वर, और पूरा भरा हुआ, एक कदम तुम बढ़े और वहीं ेर हुए।"

"अच्छा, यह भी साथ ही लाई हो तुम !"

"तुम्हें क्या पहचानती नहीं हूं, तो खाली हाथ आने की भूल करती, मेरी बात सुनो, अदित.. ...।"

"एक मिनिट, मँजु जरा जरूरी काम है।" उसके मुँह पर एकदम किसी गंभीर निश्चय की रेखा खिच गई। जेब से कलम व कागज निकाला, जल्दी-जल्दी उस पर कुछ घसीटा और फिर दोनों चीजों जेब में रखते हुए बोला—"हां, अब कहो।"

"देखो' अदित, अतीत को हम बांहों में घेरे नहीं बैठे रह सकते। जो बीत गया वह दूर गया। तुम्हें पा सकती, ैसा मेरा भाग्य नहीं था। पा लेती तो कैसा लगता, यह भी नहीं जानती। परन्तु असन्तुष्ट मैं आज नहीं हूं। अच्छे-भले मेरे पति हैं, प्यारे-प्यारे दो बच्चे हैं सुखी गृहस्थी है। फिर क्यों तुम उसमें आग लगाना चाहते हो ? जो अब हो नहीं सकता उसके प्रति इतना मोह, इतना आग्रह क्यों ?"

"वह सब मैं नहीं जानता। मैं कुछ सुनना भी नहीं चाहता।"

"अदित ! मैंने कह दिया है—आगे न बढ़ना···देखो, मैं ने सेफ्टी कैच हटा लिया है......अदित...मैं...खबरदार अदित...।"

वह आवेश में कांप रही थी। एक क्षण को अदित ठिठका, फिर मुसकरा कर आगे बढ़ा।

ठांय ! ठांय !

साथ ही एक चीख मंजु के मुँह से निकल गई. अदित झूमा और फिर लड़खड़ा कर बैठ गया.

"यह क्या हो गया ? हाय, यह क्या किया मैंने ?" मंजु की आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा,

तभी सुनाई दिया : "मंजु !"

वह चिहुंक उठी. वही पहचाना हुआ स्वर था...वही जो दस वर्ष

पूर्व एक क्षण को सुनाई दे कर मौन हो गया था. "मंजु, निशाना तो अच्छा लगा लेती हो. यहाँ आओ मेरे पास...अब तो डर नहीं है ? हाँ...और पास. एक काम करोगी ? बहुत थोड़े क्षण रह गए हैं. मेरा सिर अपनी गोद में ले लो. हाँ...यों...अब हाथ दो अपना. हाँ...अब वचन दो...यों सिर हिला कर नहीं, मुँह से कहो. हाँ...देखो. मंजु, तुम्हें विश्वास करना होगा कि आज तुमने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया है, बहुत भार हो गया था, जीवन अब ढोया नहीं जाता था. तुम्हीं ने बाँधा था, तुम्हीं ने मुक्त कर दिया. मुझे सब कुछ मिल गया...'

बहुत धीरे धीरे बोल पा रहा था वह. सांस फूल आई थी. थोड़ी देर सुस्ताने के बाद उसने कहा :

"तुम्हें लेने अब आता, मंजु—इतना मूर्ख मैं नहीं था. तुम्हारे बच्चों को और तुम्हारे पति को मैंने देखा है – मेरा आशीर्वाद ! सोचा था कहीं किसी कोने में एकांत जीवन बिता दूंगा. परंतु तुम्हें एक बार देख लेने का लोभ संवारण नहीं कर पाया. लेकिन असीम दयामयी निकलीं तुम—मेरा सहज मार्ग तुमने अपने ही हाथों प्रशस्त कर दिया...एक काम करो, मंजु—मेरा रिवाल्वर कवट में आ गया है. उसे निकाल कर मेरे हाथ में दे दो. दरवाजे की ताली जेब से निकाल लो. और खबरदार, जो अब की बात किसी से भी कही ! मैंने आत्महत्या की है- इस आशय का पत्र लिख कर मैंने पहले ही जेब में डाल लिया है

कुछ क्षण का मौन. फिर धीरे से कहा' "तुम दुखी न होना, मंजु.

बहुत देर रुलाई को वह किसी तरह रोके हुई थी, अब सहन न हुआ. फफक कर रो उठी.

अदित का स्वर धीरे धीरे मंदा पड़ता जा रहा था. दर्द से शरीर ऐंठने लगा था.

"पानी !,' वह बुदबुदाया.

मंजु ने इधरउधर देखा. कमरे में कहीं पानी नजर नहीं आया.

''अभी लाती हूँ.'' कह कर उठने लगी तो इशारे से अदित ने रोक लिया.

''रहने दो, मेरे पास से मत उठो इस समय. जितनी प्यास होंठों पर रह जाएगी आगे की यात्रा उतनी ही सरल होगी.'

खुश्की से जबान ऐंट रही थी, होंठ भिंचे जा रहे थे. असहाय-सी जु एक क्षण को झिझकी और फिर अपने गीले अधर उन प्यासे होंठों पर रख दिए.